Jain Adhyatma Academy of North America (JAANA)

Dedicated to
Preserve, Propagate & Perpetuate Jain Adhyatma

WELCOMES you to

12th ANNUAL SHIBIR @ Jain Society of Toronto

Shibir Agenda

Time	Fri. 6/29	Sat. 6/30	Sun. 7/1	Mon. 7/2	Tues. 7/3	W. 7/4
7:45 - 8:30 am		Pooja	Pooja	Pooja	Pooja	Pooja
8:30 - 9:00 am		Breakfast	Breakfast	Breakfast	Breakfast	Breakfast
9:00 - 10:00 am		Bharillji	Sanjeevji	Bharillji	Sanjeevji	Bharillji
10:15 - 11:15 am		Abhayji	Bharillji	Sanjeevji	Abhayji	Abhayji
11:15 - 12:15 am		Sanjeevji	Abhayji	Abhayji	Bharillji	Sanjeevji
12:15 - 1:30 pm		Lunch	Lunch	Lunch	Lunch	Lunch
2:30 - 3:00 pm		Tea	Tea	Tea	Tea	
3:15 - 4:15 pm		Sanjeevji	Abhayji	Sanjeevji	Sanjeevji	
4:15 - 5:15 pm		Game	Bharillji	Game	Bharillji	
5:30 - 6:30 pm	Regis.	Abhayji	Sanjeevji	Abhayji	Abhayji	
7:00 - 8:00 pm	Dinner	Dinner	Dinner	Dinner	Dinner	
8:15 - 9:15 pm	Bharillji	Gyan Gosthi	Gyan Gosthi	Gyan Gosthi	Gyan Gosthi	

Jain Adhyatma Academy of North America (JAANA)

Invites you to become a member and be a part of the team to promoteJain Tatvagyan

Visit jaana.org for more information

INDEX

Stuti Section

24 Tirthankar Stiti (Jo Anadi Se Vyakta Nahi Tha) 7
Aaradhana Paath 9
Darshan Stuti (Bhatak - Bhatak).....4
Darshan Stuti (Naath Tumhare Dareshan Se).....5
Dev Darshan (Prabhu Veetarag Mudra Teri & Dhanya Ghadi) 6
Panch Parmesthi Vandana.....3
Saraswati Vandana 5
Vinay Path (Safal Janma Mera Hua) 10

Pooja Section

Dev Shashtra Guru Pooja 14
Maha Argha 27
Panch Balyati Pooja.....24
Pooja Pithika & Mangal Vidhaan 11
Shanti Paath & Visarjan.....28
Siddh Pooja.....16
Simandhar Pooja 20
Swasti Mangal 13

Shastraji Section

47 Shakti 29
Pravachansaar (Padhyanuvad).....29
Pravachansaar (Gatha 94-97) 31
Vyvaharabhasi Mithyadrushti 64

Stavan Section

Ashariri Siddh Bgawan.....63
Hey Prabho, Charano Me Tere Aa Gaye 50
Mein Gyananand Swabhavi Hun 90

पंचपरमेष्ठी वंदना

(सवैया)

अरहन्त सिद्ध सूरि उपाध्याय साधु सर्व,
अर्थ के प्रकाशी मांगलीक उपकारी हैं।

तिनको स्वरूप जान राग तैं भई जो भक्ति,
काय को नमाय स्तुति को उचारी है ।।

धन्य-धन्य तुमही से काज सब आज भये,
कर जोरि बार-बार वन्दना हमारी है।

मंगल कल्याण सुख ऐसो हम चाहत हैं,
होहु मेरी ऐसी दशा जैसी तुम धारी है ।।

***

श्रद्धेय हो गये

वंदनीय हो गये प्रभु, निज का वन्दन कर।
हुए जगत आराध्य, स्वयं का आराधन कर ।।
परमभाव की श्रद्धा से श्रद्धेय हो गये।
आप आपको ध्याय, ध्यान के ध्येय हो गये ।।

***

उपकार स्मरण

क्या करें गुणगान प्रभुवर, आपके उपकार का ।
आपने निज निधि हमें दी, नमन करते आपका ।।
आप में प्रभु आप से ही, आप-सी श्रद्धा जगे ।
दूर होवें भाव विकृत, परिणति निज में रमें ।।

***

दर्शन-स्तुति

भटक-भटक भव की गलियों में, दुख ही दुख मैंने पाया ।
पा करके कुछ बाह्य वस्तुयें, निकट नहीं तेरे आया ।।1।।

कोटि कोटि सत्कृत्यों से ही, आ पहुँचा जिनमन्दिर में ।
देख-देख प्रतिमा प्रभु तेरी, हर्ष उमड़ता अन्दर में ।।2।।

आँखों का मिल गया मुझे फल, शान्तमूर्ति दर्शन करके ।
रहूँ आपके चरणों में ही, काम-काज तज कर घर के ।।3।।

दीर्घ भ्रमण की लम्बी-चौड़ी, मेरी दुखद कहानी है ।
त्रिभुवन नाथ जिनेश्वर तुमसे, नहीं कभी वह छानी है ।।4।।

यों तो मैं अनादि से दुखिया, पर अब दुख विसराया है ।
मानव भव में मिली तुम्हारे, पद-पंकज की छाया है ।।5।।

तेरे दर्शन के प्रभाव से, मोह-ग्रन्थि सारी छूटी ।
और मानसिक ममता साँकल, क्षण भर में मेरी टूटी ।।6।।

वीतराग प्रभु के दर्शन से, पर-परिणति सत्वर भागी ।
सम्प्रति कोई अहो अपरिमित, परमशान्ति मन में जागी ।।7।।

तुच्छ इन्द्र चक्री वैभव को, प्रभु तुम दर्शन के आगे ।
अस्थिर जल बुद-बुद सम धन को, कौन मुमुक्षु अब माँगे ?।।8।।

सफल उसी का है नर जीवन, जो तुमको अपनाता है ।
वीतराग सर्वज्ञ हितैषी, तू ही जग का त्राता है ।।9।।

दिव्य आपके स्वच्छ ज्ञान में, लोकालोक झलकता है ।
निजस्वरूप में रहे लीन अति, तू न उसे अपनाता है ।।10।।

बिन आयुध ही देव आपने, महामोह क्षण में मारा ।
त्रिभुवन विजयी कामदेव भी, नाथ आप से ही हारा ।।11।।

यद्यपि राग-द्वेष इस जग में, नहीं किसी से तुम करते ।
निंदक जन पाते दुख अतिशय, भव्य भक्ति द्वारा तिरते ।।12।।

दर्शन-स्तुति

नाथ तुम्हारे दर्शन से, निज दर्शन मैंने पाया ।
तुम जैसी प्रभुता निज में लख, चित मेरा हुलसाया ।।टेक।।

तुम बिन जाने निज से च्युत हो, भव-भव में भटका हूँ ।
निज का वैभव निज में शाश्वत, अब मैं समझ सका हूँ ।।
निज प्रभुता में मगन होऊँ मैं, भोगूँ निज की माया ।।1।।

पर्यय में पामरता, तब भी द्रव्य सुखमयी राजे ।
पर्ययदृष्टि गौण करूँ, निजभाव लखूँ सुख काजे ।।
पर्यय में ही अटक-भटक कर, मैं बहु दुःख उठाया ।।2।।

पद्मासन थिर मुद्रा, स्थिरता का पाठ पढ़ाती ।
निजभाव लखे से सुख होता, नासादृष्टी सिखलाती ।।
कर पर कर ने कर्तृत्व रहित, सुखमय शिवपंथ सुझाया ।।3।।

यही भावना अब तो भगवन, निज में ही रम जाऊँ ।
आधि-व्याधि-उपाधि रहित, मैं परमसमाधि पाऊँ ।।
ज्ञान-सुखमयी ध्रुव स्वभाव ही, अब मेरे मन भाया ।।4।।

***

सरस्वती वंदना

जिन स्वानुभूति से खिरी, मम स्वानुभूति मधि गिरी ।
श्री विमल धारा जैन श्रुत, आनंद अमृत से भरी ।।
समता प्रवाह बहावती, रागादि विकलप तोरि के ।
मां सरस्वती प्रति भाव वंदन, दृष्टि निज में जोरि के ।।

***

प्रभु-दर्शन

प्रभु वीतराग मुद्रा तेरी, कह रही मुझे निधि मेरी है ।
हे परमपिता त्रैलोक्यनाथ, मैं करूँ भक्ति क्या तेरी है ।।1 ।।

ना शब्दों में शक्ति इतनी, जो वरण सके तुम वैभव को ।
बस मुद्रा देख हरष होता, आतम निधि जहाँ उकेरी है ।।2।।

इससे दृढ़ निश्चय होता है, सुख ज्ञान नहीं है बाहर में ।
सब छोड़ स्वयं में रम जाऊँ, अन्तर में सुख की ढेरी है ।।3।।

नहिं दाता हर्ता कोई है, सब वस्तु पूर्ण हैं निज में ही ।
पूर्णत्व भाव की हो श्रद्धा, फिर नहीं मुक्ति में देरी है ।।4।।

***

देव-दर्शन

धन्य घड़ी मैं दर्शन पाया, आज हृदय में आनन्द छाया ।
श्री जिनबिम्ब मनोहर लखकर, जिनवर रूप प्रत्यक्ष दिखाया ।।

मुद्रा सौम्य अखण्डित दर्पण, में निज भाव अखण्ड लखाया ।
निज महिमा सर्वोत्तम लखकर, फूला उर में नहीं समाया ।।

राग प्रतीक जगत में नारी, शस्त्र द्वेष का चिह्न बताया ।
वस्त्र वासना के लक्षण हैं, इन बिन निर्विकार है काया ।।

जग से निस्पृह अंतदृष्टि, लोकालोक तदपि झलकाया ।
अद्भुत स्वच्छ ज्ञान दर्पण में, मुझको ज्ञानहि ज्ञान सुहाया ।।
कर पर कर देखें मैं जब से, नहिं कर्तृत्व भाव उपजाया ।
आसन की स्थिरता ने प्रभु, दौड़ धूप का भाव भगाया ।।
निष्कलंक अरु पूर्ण विरागी, एकहि रूप मुझे प्रभु भाया ।
निश्चय यही स्वरूप सु मेरा, अंतर में प्रत्यक्ष मिलाया ।।
जिन मुद्रा दृष्टि में बस गई, भव स्वाँगों से चित्त हटाया ।
आत्मन् यहीं दशा सुखकारी, होवे भाव हृदय उमगाया ।।

चौबीस तीर्थंकर स्तवन

जो अनादि से व्यक्त नहीं था त्रैकालिक ध्रुव ज्ञायक भाव ।
वह युगादि में क्रिया प्रकाशित वन्दन ऋषभ जिनेश्वर राव ।।1।।

जिसने जीत लिया त्रिभुवन को मोह शत्रु वह प्रबल महान ।
उसे जीतकर शिवपद पाया वन्दन अजितनाथ भगवान ।।2।।

काललब्धि बिन सदा असम्भव निज सन्मुखता का पुरुषार्थ ।
निर्मल परिणति के स्वकाल में सम्भव जिनने पाया अर्थ ।।3।।

त्रिभुवन जिनके चरणों का अभिनंदन करता तीनों काल ।
वे स्वभाव का अभिनन्दन कर पहुँचे शिवपुर में तत्काल ।।4।।

निज आश्रय से ही सुख होता यही सुमति जिन बतलाते ।
सुमतिनाथ प्रभु की पूजन कर भव्य जीव शिवसुख पाते ।।5।।

पद्मप्रभ के पद-पंकज की सौरभ से सुरभित त्रिभुवन ।
गुण अनन्त के सुमनों से शोभित श्री जिनवर का उपवन ।।6।।

श्री सुपार्श्व के शुभ सु-पार्श्व में जिनकी परिणति करे विराम ।
वे पाते हैं गुण अनन्त से भूषित सिद्ध सदन अभिराम ।।7।।

चारु चन्द्रसम सदा सुशीतल चेतन चन्द्रप्रभ जिनराज ।
गुण अनन्त की कला विभूषित प्रभु ने पाया निजपद राज ।।8।।

पुष्पदंत सम गुण आवलि से सदा सुशोभित हैं भगवान ।
मोक्षमार्ग की सुविधि बताकर भविजन का करते कल्याण ।।9।।

चन्द्रकिरण सम शीतल वचनों से हरते जग का आताप ।
स्याद्वादमय दिव्यध्वनि से मोक्षमार्ग बतलाते आप ।।10।।

त्रिभुवन के श्रेयस्कर हैं श्रेयांसनाथ जिनवर गुणखान ।
निज स्वभाव ही परम श्रेय का केन्द्र बिन्दु कहते भगवान ।।11।।

शत इन्द्रों से पूजित जग में वासुपूज्य जिनराज महान ।
स्वाश्रित परिणति द्वारा पूजित पञ्चमभाव गुणों की खान ।।12।।

निर्मल भावों से भूषित हैं जिनवर विमलनाथ भगवान ।
राग-द्वेष मल का क्षय करके पाया सौख्य अनन्त महान ।।13।।

गुण अनन्त पति की महिमा से मोहित है यह त्रिभुवन आज ।
जिन अनन्त को वन्दन करके पाऊँ शिवपुर का साम्राज्य ।।14।।

वस्तुस्वभाव धर्मधारक हैं धर्म धुरन्धर नाथ महान ।
ध्रुव की धुनमय धर्म प्रगट कर वन्दित धर्मनाथ भगवान ।।15।।

रागरूप अंगारों द्वारा दहक रहा जग का परिणाम ।
किन्तु शांतिमय निजपरिणति से शोभित शांतिनाथ भगवान ।।16।।

कुन्थु आदि जीवों की भी रक्षा का देते जो उपदेश ।
स्व-चतुष्टय में सदा सुरक्षित कुन्थुनाथ जिनवर परमेश ।।17।।

पंचेन्द्रिय विषयों से सुख की अभिलाषा है जिनकी अस्त ।
धन्य-धन्य अरनाथ जिनेश्वर राग-द्वेष अरि किए परास्त ।।18।।

मोह मल्ल पर विजय प्राप्त कर जो हैं त्रिभुवन में विख्यात ।
मल्लिनाथ जिन समवसरण में सदा सुशोभित हैं दिन रात ।।19।।

तीन कषाय चौकड़ी जयकर मुनि-सु-व्रत के धारी हैं ।
वन्दन जिनवर मुनिसुव्रत जो भविजन को हितकारी हैं ।।20।।

नमि जिनवर ने निज में नमकर पाया केवलज्ञान महान ।
मन-वच-तन से करूँ नमन सर्वज्ञ जिनेश्वर हैं गुणखान ।।21।।

धर्मधुरा के धारक जिनवर धर्मतीर्थ रथ संचालक ।
नेमिनाथ जिनराज वचन नित भव्यजनों के है पालक ।।22।।

जो शरणागत भव्यजनों को कर लेते हैं आप समान ।
ऐसे अनुपम अद्वितीय पारस हैं पार्श्वनाथ भगवान ।।23।।

महावीर सन्मति के धारक वीर और अतिवीर महान ।
चरण-कमल का अभिनन्दन है वन्दन वर्धमान भगवान ।।24।।

***

मैं देव नित अरहंत चाहूँ, सिद्ध का सुमिरन करौं ।
मैं सूर गुरु मुनि तीन पद ये, साधुपद हिरदय धरौं ।।
मैं धर्म करुणामयी चाहूँ, जहाँ हिंसा रंच ना ।
मैं शास्त्र ज्ञान विराग चाहूँ, जासु में परपंच ना ।।1।।

चौबीस श्री जिनदेव चाहूँ, और देव न मन बसैं ।
जिन बीस क्षेत्र विदेह चाहूँ, वंदिते पातक नसैं ।।
गिरनार शिखर सम्मेद चाहूँ, चम्पापुरी पावापुरी ।
कैलाश श्री जिनधाम चाहूँ, भजत भाजैं भ्रम जुरी ।।2।।

नव तत्त्व का सरधान चाहूँ, और तत्त्व न मन धरौं ।
षट् द्रव्य गुण परजाय चाहूँ, ठीक तासौं भय हरौं ।।
पूजा परम जिनराज चाहूँ, और देव नहीं कदा ।
तिहूँकाल की मैं जाप चाहूँ, पाप नहिं लागे कदा ।।3।।

सम्यक्त्व दर्शन ज्ञान चारित्र, सदा चाहूँ भाव सों ।
दशलक्षणी मैं धर्म चाहूँ, महा हर्ष उछाव सों ।।
सोलह जु कारण दुख निवारण, सदा चाहूँ प्रीति सों ।
मैं नित अठाई पर्व चाहूँ, महामंगल रीति सों ।।4।।

मैं वेद चारों सदा चाहूँ, आदि अन्त निवाह सों ।
पाये धरम के चार चाहूँ, अधिक चित्त उछाह सों ।।
मैं दान चारों सदा चाहूँ, भुवनवशि लाहो लहूँ ।
आराधना मैं चार चाहूँ, अन्त में ये ही गहूँ ।।5।।

भावना बारह जु भाऊं, भाव निरमल होत हैं ।
मैं व्रत जु बारह सदा चाहूँ, त्याग भाव उद्योत हैं ।।
प्रतिमा दिगम्बर सदा चाहूँ, ध्यान आसन सोहना ।
वसुकर्म तैं मैं छुटा चाहूँ, शिव लहूँ जहँ मोह ना ।।6।।

मैं साधुजन को संग चाहूँ, प्रीति तिनहीं सों करौं ।
मैं पर्व के उपवास चाहूँ, आरम्भ में सब परिहरों ।।

इस दुखद पंचम काल माहीं, कुल श्रावक में लह्यौ ।
अरु महाव्रत धरि सकौं नाहीं, निबल तन मैंने गह्यौ ।।7।।
आराधना उत्तम सदा, चाहूँ सुनो जिनराय जी ।
तुम कृपानाथ अनाथ 'द्यानत' दया करना न्याय जी ।।
वसुकर्मनाश विकाश, ज्ञान प्रकाश मुझको दीजिये ।
करि सुगति गमन समाधिमरन, सुभक्ति चरनन दीजिये ।।8।।

विनय पाठ

सफल जन्म मेरा हुआ, प्रभु दर्शन से आज ।
भव समुद्र नहिं दीखता, पूर्ण हुए सब काज ।।1।।

दुर्निवार सब कर्म अरु, मोहादिक परिणाम ।
स्वयं दूर मुझसे हुए, देखत तुम्हें ललाम ।।2।।

संवर कर्मों का हुआ, शान्त हुए गृह जाल ।
हुआ सुखी सम्पन्न मैं, नहिं आये मम काल ।।3।।

भव कारण मिथ्यात्व का, नाशक ज्ञान सुभानु ।
उदित हुआ मुझमें प्रभो, दीखे आप समान ।।4।।

मेरा आत्मस्वरूप जो, ज्ञानादिक गुण-खान ।
आज हुआ प्रत्यक्ष सम, दर्शन से भगवान ।।5।।

दीन भावना मिट गई, चिन्ता मिटी अशेष ।
निज प्रभुता पाई प्रभो, रहा न दुख का लेश ।।6।।

शरण रहा था खोजता, इस संसार मँझार ।
निज आतम मुझको शरण, तुमसे सीखा आज ।।7।।

निज स्वरूप में मगन हो, पाऊँ शिव अभिराम ।
इसी हेतु मैं आपको, करता कोटि प्रणाम ।।8।।

मैं वन्दौं जिनराज को, धर उर समता भाव ।
तन-धन-जन-जगजाल से, धरि विरागता भाव ।।9।।

यही भावना है प्रभो, मेरी परिणति माहिं ।
राग-द्वेष की कल्पना, किंचित् उपजै नाहिं ।।10।।

पूजा पीठिका

ॐ जय जय जय नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोऽस्तु
णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं

(छंद-ताटंक)

अरिहंतो को नमस्कार है, सिद्धों को सादर वंदन ।
आचार्यों को नमस्कार है, उपाध्याय को है वन्दन ।।1।।
और लोक के सर्वसाधुओं को है विनय सहित वन्दन ।
परम पंच परमेष्ठी प्रभु को बार-बार मेरा वन्दन ।।2।।

ॐ हीं श्री अनादि मूलमंत्रेभ्यो नमः पुष्पांजलि क्षिपेत् ।

मंगल चार, चार हैं उत्तम चार शरण में जाऊँ मैं ।
मन-वच-काय त्रियोग पूर्वक, शुद्ध भावना भाऊँ मैं ।।3।।
श्री अरिहंत देव मंगल हैं, श्री सिद्ध प्रभु हैं मंगल ।
श्री साधु मुनि मंगल हैं, है केवलि कथित धर्म मंगल ।।4।।
श्री अरिहंत लोक में उत्तम, सिद्ध लोक में हैं उत्तम ।
साधु लोक में उत्तम हैं, है .केवलि कथित धर्म उत्तम ।।5।।
श्री अरिहंत शरण में जाऊँ, सिद्ध लोक में मैं जाऊँ ।
साधु शरण में जाऊँ, केवलि कथित धर्म शरणा पाऊँ ।।6।।

ॐ हीं नमो अर्हते स्वाहा पुष्पांजलि क्षिपेत् ।

मंगल विधान

अपवित्र हो या पवित्र, जो णमोकार को ध्याता है ।
चाहे सुस्थित हो या दुस्थित, पाप-मुक्त हो जाता है ।।1।।

हो पवित्र-अपवित्र दशा, कैसी भी क्यों नहिं हो जन की ।
परमातम का ध्यान किये, हो अन्तर-बाहर शुचि उनकी ।।2।।

है अजेय विघ्नों का हर्त्ता, णमोकार यह मंत्र महा ।
सब मंगल में प्रथम सुमंगल, श्री जिनवर ने एम कहा ।।3।।

सब पापों का है क्षयकारक, मंगल में सबसे पहला ।
नमस्कार या णमोकार यह, मन्त्र जिनागम में पहला ।।4।।

अर्हं ऐसे परं ब्रह्म-वाचक, अक्षर का ध्यान करूँ ।
सिद्धचक्र का सद्बीजाक्षर, मन-वच-काय प्रणाम करूँ ।।5।।

अष्टकर्म से रहित मुक्ति-लक्ष्मी के घर श्री सिद्ध नमूँ ।
सम्यक्त्वादि गुणों से संयुत, तिन्हें ध्यान धर कर्म वमूँ ।।6।।

जिनवर की भक्ति से होते, विघ्न समूह अन्त जानो ।
भूत शाकिनी सर्प शांत हो, विष निर्विष होता मानो ।।7।।

ॐ नमोऽर्हते स्वाहा (पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

जिनसहस्त्रनाम अर्घ्य

मैं प्रशस्त मंगल गानों से युक्त जिनालय माँहि यजूँ ।
जल चंदन अक्षत प्रसून चरु , दीप धूल फल अर्घ्य सजूँ ।।

ॐ ह्रीं श्री भगवज्जिनसहस्रनामेभ्योऽर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

पूजा प्रतिज्ञा पाठ

स्याद्वाद वाणी के नायक, श्री जिनको मैं नमन कराय ।
चार अनंत चतुष्टयधारी, तीन जगत के ईश मनाय ।।
मूलसंघ के सम्यग्दृष्टि, उनके पुण्य कमावन काज ।
करूँ जिनेश्वर की यह पूजा, धन्य भाग्य है मेरा आज ।।1।।

तीन लोक के गुरु जिन-पुंगव, महिमा सुन्दर उदित हुई ।
सहज प्रकाश मई दृग-ज्योति, जग-जन के हित मुदित हुई ।।
समवसरण का अद्भुत वैभव, ललित प्रसन्न करी शोभा ।
जग-जन का कल्याण करे अरु, क्षेम कुशल हो मन लोभा ।।2।।

निर्मल बोध सुधा सम प्रकटा, स्व-पर विवेक करावनहार ।
तीन लोक में प्रथित हुआ जो, वस्तु त्रिजग प्रकटावनहार ।।

ऐसा केवलज्ञान करे, कल्याण सभी जगतीतल का ।
उसकी पूजा रचूँ आज मैं, कर्म बोझ करने का हलका ।।3।।

द्रव्य-शुद्धि अरु भाव-शुद्धि, दोनों विधि का अवलंबन कर ।
करूँ यथार्थ पुरुष की पूजा, मन-वच-तन एकत्रित कर ।।
पुरुष-पुराण जिनेश्वर अर्हन्, एकमात्र वस्तु का स्थान ।
उसकी केवल-ज्ञान वह्नि में, करूँ समस्त पुण्य आह्वान ।।4।।

इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्

स्वस्ति मंगल पाठ

ऋषभदेव कल्याण कराय, अजित जिनेश्वर निर्मल थाय ।
स्वस्ति करें संभव जिनराय, अभिनंदन के पूजों पाय ।।1।।

स्वस्ति करें श्री सुमति जिनेश, पद्म-प्रभ पद-पद्म विशेष ।
श्री सुपार्श्व स्वस्ति के हेतु, चन्द्रप्रभ जन तारन सेतु ।।2।।

पुष्पदंत कल्याण सहाय, शीतल शीतलता प्रकटाय ।
श्री श्रेयांस स्वस्ति के श्वेत, वासुपूज्य शिव साधन हेत ।।3।।

विमलनाथ पद विमल कराय, श्री अनंत आनंद बताय ।
धर्मनाथ शिव शर्म कराय, शांति विश्व में शांति कराय ।।4।।

कुंथु और अरजिन सुखरास, शिवमग में मंगलमय आश ।
मल्लि और मुनिसुव्रत देव, सकल कर्मक्षय कारण एव ।।5।।

श्री नमि और नेमि जिनराज, करें सुमंगल मय सब काज ।
पार्श्वनाथ तेवीसम ईश, महावीर वंदों जगदीश ।।6।।

ये सब चौबीसों महाराज, करें भव्य जन मंगल काज ।
मैं आयो पूजन के काज, रख्यो श्री जिन मेरी लाज ।।7।।

इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्

***

श्री देव-शास्त्र-गुरु पूजन

देव-शास्त्र-गुरुवर अहो, मम स्वरूप दर्शाय ।
किया परम उपकार मैं, नमन करूँ हर्षाय ।।
जब मैं आता आप ढिग, निज स्मरण सु आय ।
निज प्रभुता मुझमें प्रभो, प्रत्यक्ष देय दिखाय ।।

ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरु समूह ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननम् ।)
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरु समूह ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः (स्थापनम् ।)
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरु समूह ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणम् ।)

जब से स्व-सन्मुख दृष्टि हुई, अविनाशी ज्ञायक रूप लखा ।
शाश्वत अस्तित्व स्वयं का लखकर जन्म-मरणभय दूर हुआ ।।
श्री देव-शास्त्र-गुरुवर सदैव, मम परिणति में आदर्श रहो ।
ज्ञायक में ही स्थिरता हो, निज भाव सदा मंगलमय हो ।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्यः जन्मजरामृत्युविनाशनाय जलं नि.स्वाहा ।

निज परमतत्त्व जब से देखा, अद्भुत शीतलता पाई है ।
आकुलतामय संतप्त परिणति, सहज नहीं उपजाई है ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्यः संसारतापविनाशनाय चन्दनं नि. स्वाहा ।

निज अक्षय प्रभु के दर्शन से ही, अक्षय सुख विकसाया है ।
क्षत् भावों में एकत्वपने का, सर्व विमोह पलाया है ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्योऽक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति स्वाहा ।

निष्काम परम ज्ञायक प्रभुवर, जब से दृष्टि में आया है ।
विभु ब्रह्मचर्य रस प्रकट हुआ, दुर्दान्त काम विनशाया है ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्यः कामबाणविध्वंसनाय पुष्पं नि. स्वाहा ।

मैं हुआ निमग्न तृप्ति सागर में, तृष्णा ज्वाल बुझाई है ।
क्षुधा आदि सब दोष नशें, वह सहज तृप्ति उपजाई है ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्यः क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं नि. स्वाहा ।

निज ज्ञान भानु का उदय हुआ, आलोक सहज ही छाया है ।
चिरमोह महातम हे स्वामी, इस क्षण ही सहज विलाया है ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्यः मोहांधकारविनाशनाय दीपं नि. स्वाहा ।

निज द्रव्य-भाव-नोकर्म शून्य, चैतन्य प्रभु जब से देखा ।
शुद्ध परिणति प्रकट हुई, मिटती परभावों की रेखा ।।

श्री देव-शास्त्र-गुरुवर सदैव, मम परिणति में आदर्श रहो ।
ज्ञायक में ही स्थिरता हो, निज भाव सदा मंगलमय हो ।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्योऽष्टकर्मदहनाय धूपम् निर्वपामीति स्वाहा ।

अहो पूर्ण निज वैभव देखा, नहीं कामना शेष रही ।
निर्वांछक हो गया सहज मैं, निज में ही अब मुक्ति दिखी ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्य: मोक्षफलप्राप्तये फलं निर्वपामीति स्वाहा ।

निज से उत्तम दिखे न कुछ भी, पाई निज अनर्घ्य माया ।
निज में ही अब हुआ समर्पण, ज्ञानानन्द प्रकट पाया ।।श्री देव.।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

जयमाला

ज्ञानमात्र परमात्मा, परम प्रसिद्ध कराय ।
धन्य आज मैं हो गया, निज स्वरूप को पाय ।।1।।

(हरिगीत-छन्द)

चैतन्य में ही मग्न हो, चैतन्य दरशाते अहो ।
निर्दोष श्री सर्वज्ञ प्रभुवर, जगत्साक्षी हो विभो ।।

सच्चे प्रणेता धर्म के, शिवमार्ग प्रकटाया प्रभो ।
कल्याण वाँछक भविजनों, के आप ही आदर्श हो ।।

शिवमार्ग पाया आप से, भवि पा रहे अरु पायेंगे ।
स्वाराधना से आप सम ही, हुए हो रहे होयेंगे ।।

तव दिव्यध्वनि में दिव्य-आत्मिक, भाव उद्घोषित हुए ।
गणधर गुरु आम्नाय में, शुभ शास्त्र तब निर्मित हुए ।।

निर्ग्रंथ गुरु के ग्रन्थ ये, नित प्रेरणायें दे रहे ।
निजभाव अरु परभाव का, शुभ भेदज्ञान जगा रहे ।।

इस दुषम भीषण काल में, जिनदेव का जब हो विरह ।
तब मात सम उपकार करते, शास्त्र ही आधार हैं ।।

जग से उदास रहें स्वयं में, वास जो नित ही करें ।
स्वानुभवमय सहज जीवन, मूल गुण परिपूर्ण हैं ।।

नाम लेते ही जिन्हों का, हर्षमय रोमाँच हो ।
संसार-भोगों की व्यथा, मिटती परम आनन्द हो ।।

परभाव सब निस्सार दिखते, मात्र दर्शन ही किए ।
निजभाव की महिमा जगे, जिनके सहज उपदेश से ।।

उन देव-शास्त्र-गुरु प्रति, आता सहज बहुमान है ।
आराध्य यद्यपि एक, ज्ञायकभाव निश्चय ज्ञान है ।।

अर्चना के काल में भी, भावना ये ही रहे ।
धन्य होगी वह घड़ी, जब परिणति निज में रहे ।।
ॐ ह्रीं श्री देवशास्त्रगुरुभ्योऽनर्घ्यपदप्राप्तये जयमालाऽर्घ्यं नि. स्वाहा ।

(दोहा)

अहो कहाँ तक मैं कहूँ, महिमा अपरम्पार ।
निज महिमा में मगन हो, पाऊँ पद अविकार ।।

(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

श्री सिद्ध पूजन

(हरिगीतका)

निज वज्रपौरुष से प्रभो ! अन्तरकलुष सब हर लिये ।
प्रांजल प्रदेश-प्रदेश में, पीयूष निर्झर झर गये ।।
सर्वोच्च हो अतएव बसते लोक के उस शिखर रे ।
तुम को हृदय में स्थाप, मणि-मुक्ता चरण को चूमते ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र अवतर अवतर (आह्वाननम्)
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ:(स्थापनम्)
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिन् ! अत्र मम सन्निहितो भव भव वषट् (सन्निधिकरणम्)
शुद्धातम-सा परिशुद्ध प्रभो ! यह निर्मल नीर चरण लाया ।
मैं पीड़ित निर्मम ममता से, अब इसका अन्तिम दिन आया ।।
तुम तो प्रभु अंतर्लीन हुए, तोड़े कृत्रिम सम्बन्ध सभी ।
मेरे जीवन-धन तुमको पा, मेरी पहली अनुभूति जगी ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने जन्म-मृत्यु-विनाशनायजलं नि.स्वाहा ।

मेरे चैतन्य-सदन में प्रभु ! धू धू क्रोधानल जलता है ।
अज्ञानअमा के अंचल में, जो छिपकर पल-पल पलता है ।।

प्रभु ! जहाँ क्रोध का स्पर्श नहीं, तुम बसो मलय की महकों में ।
मैं इसीलिए मलयज लाया क्रोधासुर भागे पलकों में ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने संसारताप-विनाशनाय चंदनं नि.स्वाहा ।

अधिपति प्रभु ! धवल भवन के हो, और धवल तुम्हारा अन्तस्तल ।
अन्तर के क्षत सब विक्षत कर, उभरा स्वर्णिम सौंदर्य विमल ।।
मैं महा मान से क्षत-विक्षत, हूँ खंड खंड लोकांत-विभो ।
मेरे मिट्टी के जीवन में, प्रभु अक्षत की गरिमा भर दो ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अक्षयपद-प्राप्तये अक्षतान् नि.स्वाहा ।।

चैतन्य-सुरभि की पुष्प वाटिका, में विहार नित करते हो ।
माया की छाया रंच नहीं, हर बिन्दु सुधा की पीते हो ।।
निष्काम प्रवाहित हर हिलोर, क्या काम काम की ज्वाला से ।
प्रत्येक प्रदेश प्रमत्त हुआ, पाताल-मधु-मधुशाला से ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने कामबाण-विध्वंसनाय पुष्पं नि.स्वाहा ।

यह क्षुधा देह का धर्म प्रभो ! इसकी पहिचान कभी न हुई ।
हर पल तन में ही तन्यता, क्षुत्-तृष्णा अविरल पीन हुई ।।
आक्रमण क्षुधा का सह्य नहीं, अतएव लिये हैं व्यंजन ये ।
सत्वर तृष्णा को तोड़ प्रभो ! लो, हम आनंद-भवन पहुँचे ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने क्षुधारोग-विनाशनाय नैवेद्यं नि.स्वाहा ।

विज्ञान नगर के वैज्ञानिक, तेरी प्रयोगशाला विस्मय ।
कैवल्य-कला में उमड़ पड़ा, सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव ।।
पर तुम तो उससे अति विरक्त, नित निरखा करते निज निधियाँ ।
अतएव प्रतीक प्रदीप लिये, मैं मना रहा दीपावलियाँ ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने मोहान्धकार-विनाशनाय दीपं नि.स्वाहा ।

तेरा प्रासाद महकता प्रभु ! अति दिव्य दशांगी धूपों से ।
अतएव निकट नहिं आ पाते, कर्मों के कीट-पतंग अरे ।।
यह धूप सुरभि-निर्झरणी, मेरा पर्यावरण विशुद्ध हुआ ।
छक गया योग-निद्रा में प्रभु ! सर्वांग अमी है बरस रहा ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अष्टकर्म-दहनाय धूपं नि.स्वाहा ।
निजलीन परम स्वाधीन बसो, प्रभु ! तुम सुरम्य शिवनगरी में ।
प्रतिपल बरसात गगन से हो, रसपान करो शिवगगरी में ।।

ये सुरतरुओं के फल साक्षी, यह भवसंतति का अंतिम क्षण ।
प्रभु मेरे मंडप में आओ, है आज मुक्ति का उद्घाटन ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने मोक्षफल-प्राप्तये फलं नि.स्वाहा ।

तेरे विकीर्ण गुण सारे प्रभु ! मुक्ता-मोदक से सघन हुए ।
अतएव रसास्वादन करते, रे ! घनीभूत अनुभूति लिये ।।
हे नाथ ! मुझे भी अब प्रतिक्षणा निज-अन्तर्वैभव की मस्ती ।
है आज अर्घ्य की सार्थकता, तेरी अस्ति मेरी बस्ती ।।
ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्यं नि.स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

चिन्मय हो, चिद्रूप प्रभु ! ज्ञाता मात्र चिदेश ।
शोध-प्रबन्ध चिदात्म के, सृष्टा तुम ही एक ।।

(श्रृंगार)

जगाया तुमने कितनी बार, हुआ नहिं चिर-निद्रा का अन्त ।
मदिर सम्मोहन ममता का, अरे ! बेचेत पड़ा मैं सन्त ।।

घोर तम छाया चारों ओर, नहीं निज सत्ता की पहिचान ।
निखिल जड़ता दिखती सप्राण, चेतना अपने से अनजान ।।

ज्ञान की प्रतिपल उठे तरंग, झाँकता उसमें आतमराम ।
अरे ! आबाल सभी गोपाल, सुलभ सबको चिन्मय अभिराम ।।

किंतु पर सत्ता में प्रतिबद्ध, कीर-मर्कट-सी गहल अनन्त ।
अरे ! पाकर खोया भगवान, न देखा मैंने कभी बसन्त ।।

नहीं देखा निज शाश्वत देव, रही क्षणिका पर्यय की प्रीति ।
क्षम्य कैसे हों ये अपराध ? प्रकृति की यही सनातन रीति ।।

अत: जड़ कर्मों की जंजीर, पड़ी मेरे सर्वात्म प्रदेश ।
और फिर नरक निगोदों बीच, हुए सब निर्णय हे सर्वेश ।।

घटाघन विपदा की बरसी, कि टूटी शंपा मेरे शीश ।
नरक में पारद-सा तन टूक, निगोदों मध्य अनन्ती मीच ।।

करें क्या स्वर्ग सुखों की बात, वहाँ की कैसी अद्भुत टेव ।
अन्त में बिलखे छह-छह मास, कहें हम कैसे उसको देव ।।

दशा चारों गति की दयनीय, दया का किन्तु न यहाँ विधान ।
शरण जो अपराधी को दे, अरे ! अपराधी वह भगवान ।।

अरे ! मिट्टी की काया बीच, महकता चिन्मय भिन्न अतीव ।
शुभाशुभ की जड़ता तो दूर, पराया ज्ञान वहाँ परकीय ।।

अहो ! 'चित्' परम अकर्तानाथ, अरे ! वह निष्क्रिय तत्त्व विशेष ।
अपरिमित अक्षय वैभवकोष, सभी ज्ञानी का यह परिवेश ।।

बताये मर्म अरे ! यह कौन ? तुम्हारे बिन वैदेही नाथ ।
विधाता शिव-पथ के तुम एक, पड़ा मैं तस्कर दल के हाथ ।।

किया तुमने जीवन का शिल्प, खिरे सब मोह, कर्म और गात ।
तुम्हारा पौरुष झंझावत, झड़ गये पीले-पीले पात ।।

नहीं प्रज्ञा-आवर्तन शेष, हुए सब आवागमन अशेष ।
अरें प्रभु ! चिर-समाधि में लीन, एक में बसते आप अनेक ।।

तुम्हारा चित्-प्रकाश कैवल्य, कहैं तुम ज्ञायक लोकालोक ।
अहो ! बस ज्ञान जहाँ हो लीन, वही है ज्ञेय, वहीं है भोग ।।

योग-चांचल्य हुआ अवरूद्ध, सकल चैतन्य निकल निष्कंप ।
अरे ! ओ योग रहित योगीश ! रहो यों काल अनन्तानन्त ।।

जीव कारण-परमात्म त्रिकाल, वही है अन्तस्तत्व अखंड ।
तुम्हें प्रभु ! रहा वही अवलम्ब, कार्य परमात्म हुए निर्बन्ध ।।

अहो ! निखरा कांचन चैतन्य, खिले सब आठों कमल पुनीत ।
अतीन्द्रिय सौख्य चिरंतन भोग, करो तुम धवल महल के बीच ।।

उछलता मेरा पौरुष आज, त्वरित टूटेंगे बंधन नाथ ।
अरे ! तेरी सुख-शय्या बीच, होगा मेरा प्रथम प्रभात ।।

प्रभो ! बीती विभावरी आज, हुआ अरुणोदय शीतल छाँव ।
झूमते शांति-लता के कुंज, चलें प्रभु ! अब अपने उस गाँव ।।

ॐ ह्रीं श्रीसिद्धचक्राधिपते सिद्धपरमेष्ठिने अनर्घ्य-प्राप्तये जयमालाऽर्घ्यं.

चिर-विलास चिद्ब्रह्म में, चिर-निमग्न भगवंत ।
द्रव्य-भाव स्तुति से प्रभो ! वंदन तुम्हें अनन्त ।।
(पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्)

श्री सीमन्धर जिनपूजन

(कुण्डलिया)

भवसमुद्र सीमित कियो, सीमंधर भगवान ।
कर सीमित निजज्ञान को प्रगट्यो पूरण ज्ञान ।।
प्रगट्यो पूरण ज्ञान वीर्य दर्शन सुखधारी ।
समयसार अविकार विमल चैतन्य विहारी ।।
अन्तर्बल से किया प्रबल रिपु मोह पराभव ।
अरे भवान्तक ! करो अभय, हर लो मेरा भव ।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्र ! अत्र अवतर अवतर संवौषट् (आह्वाननं ।)
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्र ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठ: ठ: (स्थापनं ।)
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्र ! अत्र मम सन्निहितो भव भव (वषट्सन्निधिकरणं ।)

प्रभुवर तुम जल से शीतल हो, जल से निर्मल अविकारी हो ।
मिथ्यामल धोने को जिनवर, तुम ही तो मल-परिहारी हो ।।
तुम सम्यज्ञान जलोदधि हो, जलधर अमृत बरसाते हो ।
भविजन-मनमीन प्राणदायक, भविजन मनजलज खिलाते हो ।।
हे ज्ञानपयोनिधि सीमन्धर ! यह ज्ञानप्रतीक समर्पित है ।
हो शान्त ज्ञेयनिष्ठा मेरी, जल से चरणाम्बुज चर्चित है ।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय जन्म जरा मृत्यु रोग विनाशनाय जलं नि.स्वाहा ।

चन्दनसम चन्द्रवदन जिनवर, तुम चन्द्रकिरण से सुखकर हो ।
भवताप निकन्दन हे प्रभुवर ! सचमुच तुम ही भव दुखहर हो ।।
जल रहा हमारा अन्त:स्तल, प्रभु इच्छाओं की ज्वाला से ।
यह शान्त न होगा हे जिनवर, रे ! विषयों की मधुशाला से ।।
चिर अन्तर्दाह मिटाने को, तुम ही मलयागिरि चन्दन हो ।
चन्दन से चरचूँ चरणाम्बुज, भवतप हर ! शत-शत वन्दन हो ।।

ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय संसारतापविनाशनाय चन्दनम् नि.स्वाहा ।

प्रभु! अक्षतपुर के वासी हो, मैं भी तेरा विश्वासी हूँ ।
क्षत-विक्षत में विश्वास नहीं, तेरे पद का प्रत्याशी हूँ ।।
अक्षत का अक्षत सम्बल ले, अक्षत साम्राज्य लिया तुमने ।
अक्षत विज्ञान दिया जग को, अक्षत ब्रह्माण्ड किया तुमने ।।
मैं केवल अक्षत अभिलाषी, अक्षत अतएव चरण लाया ।
निर्वाणशिला के संगम-सा, धवलाक्षत मेरे मन भाया ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि.स्वाहा ।

तुम सुरक्षित ज्ञानसुमन हो प्रभु, नहिं राग-द्वेष दुर्गन्ध कहीं ।
सर्वांग सुकोमल चिन्मय तन, जग से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ।।
निज अन्तर्वास सुवासित हो, शून्यान्तर पर की माया से ।
चैतन्य विपिन के चितरंजन, हो दूर जगत की छाया से ।।
सुमनों से मन को राह मिली, प्रभु कल्पबेलि से यह लाया ।
इनको पा चहक उठा मन-खग, भर चोंच चरण में ले आया ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय कामबाण विध्वंशनाय पुष्पम् नि.स्वाहा ।

आनन्द रसामृत के द्रह हो, नीरस जड़ता का दान नहीं ।
तुम मुक्त क्षुधा के वेदन से, षट्रस का नाम निशान नहीं ।।
विध-विध व्यंजन के विग्रह से, प्रभु भूख न शांत हुई मेरी ।
आनन्द सुधारस निर्झर तुम, अतएव शरण ली प्रभु तेरी ।।
चिर-तृप्ति-प्रदायी व्यंजन से, हो दूर क्षुधा के अंजन ये ।
क्षुत्पीड़ा कैसे रह लेगी! जब पाये नाश निरंजन से ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय क्षुधारोग विनाशनाय नैवेद्यम् नि.स्वाहा ।

चिन्मय विज्ञानभवन अधिपति, तुम लोकालोक प्रकाशक हो ।
कैवल्यकिरण से ज्योतित प्रभु, तुम महामोहतम नाशक हो ।।
तुम हो प्रकाश के पुँज नाथ, आवरणों की परछाँह नहीं ।
प्रतिबिंबित पूरी ज्ञेयावली, पर चिन्मयता को आँच नहीं ।।
ले आया दीपक चरणों में, रे! अन्तर आलोकित कर दो ।
प्रभु तेरे-मेरे अन्तर को, अविलम्ब निरन्तर से भर दो ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय मोहांधकारविनाशनाय दीपम् नि.स्वाहा ।

धू धू जलती दुख की ज्वाला, प्रभु त्रस्त निखिल जगती तल है ।
बेचेत पड़े सब देही हैं, चलता फिर राग प्रभंजन है ।।

यह धूम-घूमरी खा खा कर, उड़ रहा गगन की गलियों में ।
अज्ञानतमावृत चेतन ज्यों, चौरासी की रंग रलियों में ।।
संदेश धूप का तात्त्विक प्रभु, तुम हुए ऊर्ध्वगामी जग से ।
प्रगटे दशाँग प्रभुवर तुम को, अन्त: दशाँग की सौरभ से ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अष्टकर्म दहनाय धूपम् नि.स्वाहा

शुभ-अशुभ वृत्ति एकांत दुख, अत्यंत मलिन संयोगी है ।
अज्ञान विधाता है इनका, निश्चित चैतन्य विरोधी है ।।
काँटों सी पैदा हो जाती, चैतन्य सदन के आँगन में ।
चंचल छाया की माया सी, घटती क्षण में बढ़ती क्षण में ।।
तेरी पूजा का फल प्रभुवर ! हों शान्त शुभाशुभ ज्वालायें ।
मधुकल्प फलों-सी जीवन में, प्रभु शान्ति लतायें छा जायें ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय मोक्षफल प्राप्तये फलं नि.स्वाहा ।

निर्मल जल-सा प्रभु निजस्वरूप, पहिचान उसी में लीन हुए ।
भवताप उतरने लगा तभी, चन्दन-सी उठी हिलोर हिये ।।
अभिराम भवन प्रभु अक्षत का, सब शक्ति प्रसून लगे खिलने ।
क्षुत् तृषा अठारह दोष क्षीण, कैवल्य प्रदीप लगा जलने ।।
मिट चली चपलता योगों की, कर्मों के ईंधन ध्वस्त हुए ।
फल हुआ प्रभो ! ऐसा मधुरिम, तुम धवल निरंजन व्यक्त हुए ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपद प्राप्तये अर्घ्यं नि.स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

वैदही हो देह में, अत: विदेही नाथ ।
सीमंधर निज सीम में, शाश्वत करो निवास ।।
श्रीजिन पूर्व विदेह में, विद्यमान अरहंत ।
वीतराग सर्वज्ञ श्री सीमंधर भगवंत ।।

(वीरछन्द)

हे ज्ञानस्वभावी सीमंधर, तुम हो असीम आनन्द रूप ।
अपनी सीमा में सीमित हो, फिर भी हो तुम त्रैलोक्य भूप ।।

मोहान्धकार के नाश हेतु, तुम ही हो दिनकर अतिप्रचण्ड ।
हो स्वयं अखण्डित कर्मशत्रु को, किया आपने खण्ड-खण्ड ।।

गृहवास राग की आग त्याग, धारा तुमने मुनिपद महान ।
आतमस्वभाव साधन द्वारा, पाया तुमने परिपूर्ण ज्ञान ।।

तुम दर्शन ज्ञान-दिवाकर हो, वीरज मंडित आनन्द कन्द ।
तुम हुए स्वयं में स्वयं पूर्ण, तुम ही हो सच्चे पूर्णचन्द ।।

पूरव विदेह में हे जिनवर, हो आप आज भी विद्यमान ।
हो रहा दिव्य उपदेश भव्य, पा रहे नित्य अध्यात्म ज्ञान ।।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य देव को, मिला आपसे दिव्यज्ञान ।
आत्मानुभूति से कर प्रमाण, पाया उनने आनन्द महान ।।

पाया था उनने समयसार, अपनाया उनने समयसार ।
समझाया उनने समयसार, हो गये स्वयं वे समयसार ।।

दे गये हमें वे समयसार, गा रहे आज हम समयसार ।
है समयसार बस एक सार, है समयसार बिन सब असार ।।

मैं हूँ स्वभाव से समयसार, परिणति हो जावे समयसार ।
है यही चाह, है यही राह, जीवन हो जावे समयसार ।।
ॐ ह्रीं श्री सीमन्धरजिनेन्द्राय अनर्घ्यपदप्राप्तये जयमालार्घ्यं नि.स्वाहा ।

समयसार है सार, और सार कुछ है नहीं ।
महिमा अपरम्पार, समयसारमय आपकी ।।

---

(५) ऐसे मुनिवर

ऐसे मुनिवर देखे वन में । जाके राग-द्वेष नहिं तन में ।।
ग्रीष्म ऋतु शिखर के ऊपर, वे तो मगन रहे ध्यानन में ।।१।।
चातुरमास तरु तल ठाडे, गुरु बून्द सहें छिन-छिन में ।।२।।
शीतमास दरिया के किनारे, मुनि धीरज धरें ध्यानन में ।।३।।
ऐसे गुरु को मैं नित ध्याऊँ, देत ढोक सदा चरणन में ।।४।।

श्री पंचबालयति जिनपूजन

(हरिगीतिका)

निज ब्रह्म में नित लीन परिणति से सुशोभित हे प्रभो ।
पञ्चम परम निज पारिणामिक से विभूषित हे विभो ।।
हे नाथ ! तिष्ठो अत्र तुम सन्निकट हो मुझमय अहो ।
श्री बालयति पाँचों प्रभु को वन्दना शत बार हो ।।

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्य-मल्लि-नेमि-पार्श्व-वीरा: पंचबालयतिजिनेन्द्रा: ! अत्र अवतरन्तु अवतरन्तु संवौषट् । अत्र तिष्ठन्तु तिष्ठन्तु ठ:ठ: । अत्र मम सन्निहिता भवन्तु भवन्तु वषट् (इति आह्वाननं स्थापनं सत्रिधिकरणञ्च)

(वीरछन्द)

हे प्रभु ! ध्रुव की ध्रुव परिणति के पावन जल में कर स्नान ।
शुद्ध अतीन्द्रिय आनन्द का तुम करो निरन्तर अमृत-पान ।।
क्षणवर्ती पर्यायों का तो जन्म-मरण है नित्य स्वभाव ।
पंच बालयति-चरणों में हो तन संयोग-वियोग अभाव ।।

ॐ ह्रीं श्री वासुपूज्य-मल्लि-नेमि-पार्श्व-वीरा: पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो जन्म-मरा - मृत्यु विनाशनाय जलम् निर्वपामीति स्वाहा ।

अहो ! सुगन्धित द्रव्य आपकी परिणति में नित महक रहा ।
क्षणवर्ती चैतन्य विवर्तन की ग्रन्थि में चहक रहा ।।
द्रव्य और गुण पर्यायों में सदा महकती चेतन गन्ध ।
पंच बालयति के चरणों में क्षय हो राग-द्वेष दुर्गन्ध ।।

ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो संसारतापविनाशनाय चन्दनम् नि.स्वाहा ।

परिणामों के ध्रुव प्रवाह में बहे अखण्डित ज्ञायकभाव ।
द्रव्य-क्षेत्र अरु काल-भाव में नित्य अभेद अखण्ड स्वभाव ।।
निज गुण-पर्यायों में प्रभु का अक्षय पद अविचल अभिराम ।
पंच बालयति जिनवर ! मेरी परिणति में नित करो विराम ।।

ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् नि.स्वाहा ।

गुण अनन्त के सुमनों से हो शोभित तुम ज्ञायक उद्यान ।
त्रैकालिक ध्रुव परिणति में ही प्रतिपल करते नित्य विराम ।।
ध्रुव के आश्रय से प्रभु तुमने नष्ट किया है काम-कलंक ।
पंच बालयति के चरणों में धुला आज परिणति का पंक ।।

ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो कामबाणविनाशनाय पुष्पं नि.स्वाहा ।

हे प्रभु ! अपने ध्रुव प्रवाह में रहो निरन्तर शाश्वत तृप्त ।
षट्रस की क्या चाह तुम्हें तुम निजरस के अनुभव में मस्त ।।
तृप्त हुई अब मेरी परिणति ज्ञायक में करके विश्राम ।
पंच बालयति के चरणों में क्षुधा-रोग का रहा न नाम ।।
ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो क्षुधारोगविनाशनाय नैवेद्यं नि.स्वाहा ।

सहज ज्ञानमय ज्योति प्रज्जवलित रहती ज्ञायक के आधार ।
प्रभो ! ज्ञानदर्पण में त्रिभुवन पल-पल होता ज्ञेयाकार ।।
अहो ! निरखती मम श्रुत-परणति अपने में तव केवलज्ञान ।
पंच बालयति के प्रसाद से प्रगट हुआ निज ज्ञायक भान ।।
ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो मोहान्धकारविनाशनाय दीपम् नि.स्वाहा ।

त्रैकालिक परिणति में व्यापी ज्ञान सूर्य की निर्मल धूप ।
जिससे सकल कर्म-मल क्षय कर हुए प्रभो ! तुम त्रिभुवन भूप ।।
मैं ध्याता तुम ध्येय हमारे मैं हूँ तुममय एकाकार ।
पंच बालयति जिनवर ! मेरे शीघ्र नशो अब त्रिविध विकार ।।
ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो अष्टकर्मविनाशनाय धूपम् नि.स्वाहा ।

सहज ज्ञान का ध्रुव प्रवाह फल सदा भोगता चेतनराज ।
अपनी चित् परिणति में रमता पुण्य-पाप फल का क्या काज ।।
अरे ! मोक्षफल की न कामना शेष रहे अब हे जिनराज ।
पंच बालयति के चरणों में जीवन सफल हुआ है आज ।।
ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्योमोक्षफलप्राप्तये फलं नि.स्वाहा ।

पंचम परमभाव की पूजित परिणति में जो करें विराम ।
कारण-परमपारिणामिक का अवलम्बन लेते अविराम ।।
वासुपूज्य अरु मल्लि-नेमिप्रभु-पार्श्वनाथ-सन्मति गुणखान ।
अर्घ्य समर्पित पंच बालयति को पञ्चम गति लहूँ महान ।।
ॐ ह्रीं श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये अर्घ्य नि.स्वाहा ।

जयमाला

(दोहा)

पंच बालयति नित बसो, मेरे हृदय मँझार ।
जिनके उर में बस रहा, प्रिय चैतन्य कुमार ।।

(छप्पय)

प्रिय चैतन्य कुमार सदा परिणति में राजे,
पर-परणति से भिन्न सदा निज में अनुरागे ।
दर्शन-ज्ञानमयी उपयोग सुलक्षण शोभित,
जिसकी निर्मलता पर आतमज्ञानी मोहित ।।
ज्ञायक त्रैकालिक बालयति मम परिणति में व्याप्त हो ।
मैं नमूँ बालयति पंच को पंचमगति पद प्राप्त हो ।।

(वीरछन्द)

धन्य-धन्य हे वासुपूज्य जिन ! गुण अनन्त में करो निवास,
निज आश्रित परिणति में शाश्वत महक रही चैतन्य-सुवास ।
सत् सामान्य सदा लखते हो क्षायिक दर्शन से अविराम,
तेरे दर्शन से निज दर्शन पाकर हर्षित हूँ गुणखान ।।

मोह-मल्ल पर विजय प्राप्त कर महाबली हे मल्लि जिनेश !,
निज गुण-परिणति में शोभित हो शाश्वत मल्लिनाथ परमेश ।
प्रतिपल लोकालोक निरखते केवलज्ञान स्वरूप चिदेश,
विकसित हो चित् लोक हमारा तव किरणों से सदा दिनेश ।।

राजमती तज नेमि जिनेश्वर ! शाश्वत सुख में लीन सदा,
भोक्ता-भोग्य विकल्प विलयकर निज में निज का भोग सदा ।
मोह रहित निर्मल परिणति में करते प्रभुवर सदा विराम,
गुण अनन्त का स्वाद तुम्हारे सुख में बसता है अविराम ।।

आत्म-पराक्रम निरख आपका कमठ शत्रु भी हुआ परास्त,
क्षायिक श्रेणी आरोहण कर मोह शत्रु को किया विनष्ट ।
पार्श्वबिम्ब के चरण युगल में क्यों बसता यह सर्प कहो ?
बल अनन्त लखकर जिनवर का चूर कर्म का दर्प अहो ।।

क्षायिक दर्शन ज्ञान वीर्य से शोभित हो सन्मति भगवान !,
भरतक्षेत्र के शासन नायक अन्तिम तीर्थंकर सुखखान ।
विश्व सरोज प्रकाशक जिनवर हो केवल-मार्तण्ड महान,
अर्घ्य समर्पित चरण-कमल में वन्दन वर्धमान भगवान ।।

ॐ ह्री श्री पंचबालयतिजिनेन्द्रेभ्यो अनर्घ्यपदप्राप्तये जयमालामहार्घ्यं नि. स्वाहा ।

पंचम भाव स्वरूप पंच बालयति को नमूँ ।
पाऊँ ध्रुव चिद्रूप निज कारणपरिणाममय ।।

इति पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्

भाव महाऽर्घ - 2

(वीरछन्द)

पूजूँ मैं श्री पंच परम गुरु, उनमें प्रथम श्री अरहन्त ।
अविनाशी अविकारी सुखमय, दूजे पूजूँ सिद्ध महन्त ।।1।।

तीजे श्री आचार्य तपस्वी, सर्व साधु नायक सुखधाम ।
उपाध्याय अरु सर्व साधु प्रति, करता हूँ मैं कोटि प्रणाम ।।2।।

करूँ अर्चना जिनवाणी की, वीतराग-विज्ञान स्वरूप ।
कृत्रिमाकृत्रिम सभी जिनालय, वन्दूँ अनुपम जिनका रूप ।।3।।

पंचमेरु नन्दीश्वर वन्दूँ, जहाँ मनोहर हैं जिनबिम्ब ।
जिसमें झलक रहा है प्रतिपल, निज ज्ञायक का ही प्रतिबिम्ब ।।4।।

भूत भविष्यत् वर्तमान की, मैं पूजूँ चौबीसी तीस ।
विदेह क्षेत्र के सर्व जिनेन्द्रों के, चरणों में धरता शीश ।।5।।

तीर्थंकर कल्याणक वन्दूँ, कल्याणक अरु अतिशय क्षेत्र ।
कल्याणक तिथियाँ मैं चाहूँ और धार्मिक पर्व विशेष ।।6।।

सोलहकारण दशलक्षण अरु, रत्नत्रय वन्दूँ धर चाव ।
दयामयी जिनधर्म अनूपम, अथवा वीतरागता भाव ।।7।।

परमेष्ठी का वाचक है जो, ओंकार वन्दूँ मैं आज ।
सहस्रनाम की करूँ अर्चना, जिनके वाच्य मात्र जिनराज ।।8।।

जिसके आश्रय से ही प्रगटें, सभी पूज्यपद दिव्य ललाम ।।
ऐसे निज ज्ञायक स्वभाव की, करूँ अर्चना मैं अभिराम ।।9।।

दोहा

भक्तिमयी परिणाम का, अद्भुत अर्घ्य बनाय ।
सर्व पूज्य पद पूजहूँ, ज्ञायकदृष्टि लाय ।।10।।

ॐ ह्रीं सर्व पूज्यपदेभ्यो भावार्घ्यं निर्वपामीति स्वाहा ।

***

शान्तिपाठ-२

हूँ शान्तिमय ध्रुव ज्ञानमय, ऐसी प्रतीति जब जगे।
अनुभूति हो आनन्दमय, सारी विकलता तब भगे॥१॥

निजभाव ही है एक आश्रय, शान्ति दाता सुखमयी।
भूल स्व दर-दर भटकते, शान्ति कब किसने लही॥२॥

निज घर बिना विश्राम नाहीं, आज यह निश्चय हुआ।
मोह की चट्टान टूटी, शान्ति निर्झर बह रहा॥३॥

यह ज्ञानधारा हो अखण्ड, चिरकाल तक बहती रहे।
होवें निमग्न सुभव्यजन, सुखशान्ति सब पाते रहें॥४॥

पूजोपरान्त प्रभो यही, इक भावना है हो रही।
लीन निज में ही रहूँ, प्रभु और कुछ वाँछा नहीं॥५॥

सहज परम आनन्दमय निज ज्ञायक अविकार।
स्व में लीन परिणति विषै, बहतो समरस धार॥

विसर्जन पाठ-२

थी धन्य घड़ी जब निज ज्ञायक की, महिमा मैंने पहिचानी।
हे वीतराग सर्वज्ञ महा-उपकारी, तव पूजन ठानी॥१॥
सुख हेतु जगत में भ्रमता था, अन्तर में सुख सागर पाया।
प्रभु निजानन्द में लीन देख, मोय यही भाव अब उमगाया॥२॥
पूजा का भाव विसर्जन कर, तुमसम ही निज में थिर होऊँ।
उपयोग नहीं बाहर जावे, भव क्लेश बीज अब नहिं बोऊँ॥३॥
पूजा का किया विसर्जन प्रभु, और पाप भाव में पहुँच गया।
अब तक की मूरखता भारी, तज मोह हलाहल हाय पिया॥४॥
ये तो भारी कमजोरी है, उपयोग नहीं टिक पाता है।
तत्त्वादिक चिन्तन भक्ति से भी दूर पाप में जाता है॥५॥
हे बल-अनन्त के धनी विभो ! भावों में तयतक बस जाना।
निज से बाहर भटकी परिणति, निज ज्ञायक में ही पहुँचाना॥६॥
पावन पुरुषार्थ प्रकट होवे, बस निजानन्द में मग्न रहूँ।
तुम आवागमन विमुक्त हुए, मैं पास आपके जा तिष्ठूँ॥७॥

सैंतालीस शक्तियाँ

१. जीवत्वशक्ति २. चितिशक्ति ३. दृशिशक्ति ४. ज्ञानशक्ति ५. सुखशक्ति ६. वीर्यशक्ति ७. प्रभुत्वशक्ति ८. विभुत्वशक्ति ९. सर्वदर्शित्वशक्ति १०. सर्वज्ञत्वशक्ति ११. स्वच्छत्वशक्ति १२. प्रकाशशक्ति १३. असंकुचित-विकासत्वशक्ति १४. अकार्यकारणत्वशक्ति १५. परिणम्य-परिणामकत्वशक्ति १६. त्यागोपादानशून्यत्वशक्ति १७. अगुरुलघुत्वशक्ति १८. उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्वशक्ति १९. परिणामशक्ति २०. अमूर्तत्वशक्ति २१. अकर्तृत्वशक्ति २२. अभोक्तृत्वशक्ति २३. निष्क्रियत्वशक्ति २४. नियतप्रदेशत्वशक्ति २५. स्वयंमव्यापकत्वशक्ति २६. साधारण-असाधारणसाधारणासाधारण-धर्मत्वशक्ति २७. अनन्तधर्मत्वशक्ति २८. विरुद्धधर्मत्वशक्ति २९. तत्त्वशक्ति ३०. अतत्त्वशक्ति ३१. एकत्वशक्ति ३२. अनेकत्वशक्ति ३३. भावशक्ति ३४. अभावशक्ति ३५. भाव-अभावशक्ति ३६. अभाव-भावशक्ति ३७. भाव-भावशक्ति ३८. अभाव-अभावशक्ति ३९. भावशक्ति ४०. क्रियाशक्ति ४१. कर्मशक्ति ४२. कर्तृत्वशक्ति ४३. करणशक्ति ४४. सम्प्रदानशक्ति ४५. अपादानशक्ति ४६. अधिकरणशक्ति ४७. संबंधशक्ति।

प्रवचनसार पद्यानुवाद

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार

द्रव्यसामान्याधिकार

सम्यक् सहित चारित्रयुत मुनिराज में मन जोड़कर ।
नमकर कहूँ संक्षेप में सम्यक्त्व का अधिकार यह ।।10।।※

गुणात्मक हैं द्रव्य एवं अर्थ हैं सब द्रव्यमय ।
गुण-द्रव्य से पर्यायें पर्ययमूढ़ ही हैं परसमय ।।93।।

पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में ।
थित जीव ही हैं स्वसमय -यह कहा जिनवरदेव ने ।।94।।

निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण-
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें ।।95।।

गुण-चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से ।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है ।।96।।

रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा ।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने ।।97।।

स्वभाव से ही सिद्ध सत् जिन कहा आगमसिद्ध है ।
यह नहीं माने जीव जो वे परसमय पहिचानिये ।।98।।

स्वभाव में थित द्रव्य सत् सत् द्रव्य का परिणाम जो ।
उत्पादव्ययध्रुवसहित है वह ही पदार्थस्वभाव है ।।99।।

भंगबिन उत्पाद ना उत्पाद बिन ना भंग हो।
उत्पादव्यय हो नहीं सकते एक ध्रौव्यपदार्थ बिन ।।100।।

पर्याय में उत्पादव्यय ध्रुव द्रव्य में पर्याय हैं ।
बस इसलिए तो कहा है कि वे सभी इक द्रव्य हैं ।।101।।

उत्पादव्ययथिति द्रव्य में समवेत हों प्रत्येक पल ।
बस इसलिए तो कहा है इन तीनमय हैं द्रव्य सब ।।102।।

उत्पन्न होती अन्य एवं नष्ट होती अन्य ही ।
पर्याय किन्तु द्रव्य ना उत्पन्न हो ना नष्ट हो ।।103।।

गुण से गुणान्तर परिणमें द्रव स्वयं सत्ता अपेक्षा ।
इसलिए गुणपर्याय ही हैं द्रव्य जिनवर ने कहा ।।104।।

यदि द्रव्य न हो स्वयं सत् तो असत् होगा नियम से ।
किम होय सत्ता से पृथक् जब द्रव्य सत्ता है स्वयं ।।105।।

जिनवीर के उपदेश में पृथक्त्व भिन्नप्रदेशता ।
अतद्भाव ही अन्यत्व है तो अतत् कैसे एक हों ।।106।।

सत् द्रव्य सत् गुण और सत् पर्याय सत् विस्तार है ।
तदरूपता का अभाव ही तद्-अभाव अर अतद्भाव है ।।107।।

द्रव्य वह गुण नहीं अर गुण द्रव्य ना अतद्भाव यह ।
सर्वथा जो अभाव है वह नहीं अतद्भाव है ।।108।।

परिणाम द्रव्य स्वभाव जो वह अपृथक् सत्ता से सदा ।
स्वभाव में थित द्रव्य सत् जिनदेव का उपदेश यह ।।109।।

पर्याय या गुण द्रव्य के बिन कभी भी होते नहीं ।
द्रव्य ही है भाव इससे द्रव्य सत्ता है स्वयं ।।110।।

पूर्वाक्त द्रव्यस्वभाव में उत्पाद सत् नयद्रव्य से ।
पर्यायनय से असत् का उत्पाद होता है सदा ।।111।।

परिणमित जिय नर देव हो या अन्य हो पर कभी भी।
द्रव्यत्व को छोड़े नहीं तो अन्य होवे किसतरह ।।112।।

मनुज देव नहीं है अथवा देव मनुजादिक नहीं ।
ऐसी अवस्था में कहो कि अनन्य होवे किसतरह ।।113।।

प्रवचनसार गाथा–९४

विगत गाथा के चतुर्थ पाद में यह कहा गया था कि पर्यायमूढ़जीव परसमय हैं। अतः यहाँ यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि यदि पर्यायमूढ़ जीव परसमय हैं तो स्वसमय कौन हैं?

उक्त प्रश्न को ध्यान में रखकर आगामी गाथा ९४ में स्वसमय और परसमय के स्वरूप को विशेष स्पष्ट किया जा रहा है।

गाथा मूलतः इस प्रकार है –

जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।।९४।।

(हरिगीत)

पर्याय में ही लीन जिय परसमय आत्मस्वभाव में।
थित जीव ही हैं स्वसमय–यह कहा जिनवरदेव ने।।९४।।

जो जीव पर्यायों में लीन हैं; उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, वे स्वसमय जानने।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जो सकल अविद्याओं की मूल जीव–पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायों का आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में नपुंसक होने से असमानजातीय द्रव्यपर्याय में ही बल धारण करते हैं; 'मैं मनुष्य हूँ, मेरी यह नरदेह है' – इसप्रकार के अहंकार–ममकार से ठगे गये हैं; निरर्गल एकान्त दृष्टिवाले वे लोग अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार से च्युत होकर समस्त क्रियाकलाप को छाती से लगानेरूप मनुष्यव्यवहार का आश्रय करके रागी–द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त हो जाने से परसमय होते हैं, परसमयरूप परिणमित होते हैं।

जो सकल विद्याओं की मूल, असंकीर्ण द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायों से सुस्थित, आत्मा के स्वभाव का आश्रय करके यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में समर्थ होने से पर्यायमात्र के प्रति बल को दूर करके आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं; जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह नष्ट कर दिये हैं; वे मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार-ममकार न करके अनेक कमरों में संचारित रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकरूप ही उपलब्ध करते हुए अविचलित चेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहार को अंगीकार करके, जिसमें समस्त क्रियाकलाप से भेंट की जाती है, ऐसे मनुष्यव्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए राग-द्वेष का उन्मेष रुक जाने से परम-उदासीनता का आलम्बन लेते हुए समस्त परद्रव्यों की संगति दूर कर देने मात्र से स्वद्रव्य के साथ ही संगतता होने से वास्तव में स्वसमय होते हैं अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं। इसलिए स्वसमय ही आत्मतत्त्व है।''

इस गाथा का भाव आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र के समान ही, पर अत्यंत संक्षेप में करते हैं। उदाहरण भी अनेक कमरों में ले जानेवाले रत्नदीपक का ही देते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि वे यहाँ अहंकार और ममकार की परिभाषा देते हैं; जो इसप्रकार है -

''मनुष्यादि पर्यायरूप मैं हूँ - ऐसी परिणति को अहंकार कहते हैं और मनुष्यादि शरीर, पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय तथा तज्जन्यसुख मेरे हैं - ऐसी परिणति ममकार है।''

इस गाथा के भाव को कविवर वृन्दावनजी दो छन्दों में व्यक्त करते हैं; जिनमें पहला छन्द इसप्रकार है -

(षट्पद)

जे अज्ञानी जीव देह ही में रति राचे।
अहंकार ममकार धरें मिथ्यामद माचे।।

तिनही को परसमय नाम भगवंत कहा है।
अरु जो आतमभाव विषैं लवलीन रहा है।।
तिन आतमज्ञानी जीव को स्वसमयरत जानो सही।
वह चिद्विलास निजरूप में रमत वृन्द निज निधि लही।।१२।।

जो अज्ञानी जीव शरीर में अहंकर–ममकार करते हैं, उसमें रति करते हैं; वे मिथ्यात्वरूपी मदिरा के नशे में हैं। भगवान ने उन्हीं को परसमय कहा है।

जो अपने आत्मा में एकत्व–ममत्व धारण कर उसमें लवलीन रहते हैं; उन आत्मज्ञानी जीवों को स्वसमय जानना चाहिए।

वृन्दावन कवि कहते हैं कि निजरूप चैतन्य में विलास करनेवाले वे लोग निजनिधि को प्राप्त कर उसी में रमते हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(कवित्त छन्द)

जे जिय मनुष्यादि परजायनि विषैं लगे ममिता करि मोहि।
आतमीक गुन विषैं नपुंसक ते परसमय कहे जिन टोहि।।
सुसमयवंत संत तिन्हि के घट सहज परमपद परगट होहि।
दरसन ग्यान चरन गुन अपनौ राख्यौ तिन्हि सु आप सौं गोहि।।३।।

जो जीव मनुष्यादि पर्यायों में ममता करके मोहित हो रहे हैं और आत्म गुणों को जानने में नपुंसक हो रहे हैं; उन्हें वस्तुस्वरूप के खोजी जिनराज परसमय कहते हैं। स्वसमय अवस्था के धारी संतों के हृदय में परमपद सहज ही प्रगट होगा; क्योंकि उन्होंने अपने हृदय में दर्शन, ज्ञान और चारित्र को छुपाकर रखा है।

इस गाथा का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं–

''जो जीव–पुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय का आश्रय करता है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो जीव अकेली पर्याय को मानता है, वह

१. दिव्यध्वनिसार भाग–३, पृष्ठ–४०

शरीर को अपना मानता है। शरीर असमानजातीयद्रव्यपर्याय है; फिर भी उनकी क्रिया जीव से हुई है – ऐसा अज्ञानी मानता है।[१]

समानजातीय स्कन्धों में भी प्रत्येक परमाणु की पर्याय उनके द्रव्य गुण के आधार से है और अपनी राग पर्याय अपने आधार से है – ऐसा वह नहीं देखता; अपितु संयोगों को ही देखता है, किन्तु स्वभाव को नहीं देखता।[१]

तथा असमानजातीयद्रव्यपर्याय में आत्मा और शरीर दोनों द्रव्यों की पर्यायें पृथक्-पृथक् हैं और वे उनके द्रव्य के आधीन हैं – ऐसा होने पर भी अज्ञानी मानता है कि शरीर था तो धर्म हुआ और आत्मा थी तो शरीर चला।[२]

वस्तु त्रिकाल है, शक्ति अनंत है और पर्याय समय-समय द्रव्य में से आती है – ऐसे स्वभाव की श्रद्धा करना, वह केवलज्ञान का कारण है।[३]

अज्ञानी जीव ऐसे आत्मस्वभाव का आदर नहीं करता; वह शरीर, निमित्त व असमानजातीयद्रव्यपर्याय का आश्रय लेता है; किन्तु द्रव्य-गुण का आश्रय नहीं लेता। अपने को पुण्य-पाप जितना (मात्र) ही मानता है; अत: वह आत्मा का अनुभव करने के लिए नपुंसक है। जड़ का आश्रय करना मनुष्यव्यवहार है और उसका फल निगोद है।[४]

यहाँ दो ही बात कही हैं। जो पर्याय में मूढ है, वह परसमय है और जो द्रव्य-गुण में लीन है, वह स्वसमय है।[५]

यह प्रवचनसार का ज्ञेय अधिकार है; इसमें द्रव्य-गुण तथा विकारी अथवा अविकारी पर्यायों का यथार्थ ज्ञान कराते हैं।[६]

अज्ञानी जीव जड़ की क्रिया, पुण्य की क्रिया करना चाहिए – ऐसा कहकर सभी संयोगों और निमित्तों को छाती से लगाता है।[७]

अलग-अलग कमरों में ले जाया जानेवाला दीपक एकरूप ही है,

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-४०
२.वही, पृष्ठ-४०
३. वही, पृष्ठ-४१
४.वही, पृष्ठ-४२
५. वही, पृष्ठ-४३
६. वही, पृष्ठ-४८
७. वही, पृष्ठ-५०-५१

वह उस कमरेरूप बिल्कुल नहीं होता और परपदार्थों की क्रिया नहीं करता; उसीतरह अलग–अलग शरीरों में प्रवेश करता हुआ आत्मा एकरूप ही है; वह शरीररूप बिल्कुल नहीं होता और शरीर की क्रिया नहीं करता – ऐसा ज्ञानी जानते हैं।[१]

जो जीव अपने स्वज्ञेय का आश्रय करता है, उसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूप आत्मव्यवहार प्रगट होता है।[२]

इसतरह अपने द्रव्य–गुण–पर्याय के पिण्ड स्वद्रव्य का आश्रय होने से वह जीव वास्तव में स्वसमय होता है।[३]

जो मनुष्यव्यवहार का आश्रय करता है, उसका संसार दूर नहीं होता और स्वज्ञेय का आश्रय करनेवाले ज्ञानी को संसार उत्पन्न नहीं होता।[४]

मनुष्यव्यवहार का ज्ञानी आश्रय नहीं करते, अपितु आत्मव्यवहार का आश्रय करते हैं अर्थात् वे अपने द्रव्य का आश्रय करते हैं; अपने अंशी स्वभाव का आश्रय करते हैं; इसलिए रागी–द्वेषी नहीं होते। परद्रव्य के साथ संबंध नहीं करने से, केवल स्वद्रव्य के साथ ही सम्बन्ध करने से वे जीव धर्म को प्राप्त करते हैं।[५]

ज्ञेय अधिकार की इन दो गाथाओं में महल का स्तम्भ रोपा है; उस पर प्रशम के लक्ष्य से केवलज्ञानरूपी महल बनेगा अथवा जो मुमुक्षु इन दो गाथाओं को यथार्थ समझेंगे वे निश्चितरूप से अपने में सम्यग्दर्शन प्रगट करेंगे।[६]''

उक्त सम्पूर्ण कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यहाँ मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्व–ममत्व रखनेवालों को ही मुख्यत: परसमय कहा गया है। जो लोग इन गाथाओं की व्याख्या करते समय भी केवलज्ञानादि पर्यायों से भिन्नता पर बल देते हैं; उन्हें इन

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग–३, पृष्ठ–५५
२. वही, पृष्ठ–५६
३. वही, पृष्ठ–५९
४. वही, पृष्ठ–६०
५. वही, पृष्ठ–६२
६. वही, पृष्ठ–६२

गाथाओं और उनकी टीकाओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीयद्रव्यपर्याय ही सकल अविद्याओं का मूल है। तात्पर्य यह है कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र में जो कुछ भी विकृति हुई है, अविद्यारूप परिणमन हुआ है; उन सबका मूल असमानजातीयद्रव्य-पर्याय में एकत्वबुद्धि है, ममत्वबुद्धि है।

यद्यपि यह सत्य है कि गुरुदेवश्री ने गुणपर्यायों पर अधिक वजन दिया था। उनका उन पर वजन देना उचित भी था; क्योंकि उनकी तरफ जगत का ध्यान ही नहीं गया था। वे मात्र असमानजातीयद्रव्यपर्याय के सन्दर्भ में ही सोचते थे। इसलिए वह उस समय की अनिवार्य आवश्यकता थी; परन्तु अब उस पर आवश्यकता से अधिक ध्यान चला गया है; अत: इस पर पुन: ध्यान लाना जरूरी है।

गुरुदेवश्री ने प्रथम विवक्षा पर वजन दिया है और मैं इस दूसरी विवक्षा पर वजन दे रहा हूँ। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

केवलज्ञान भी पर्याय है एवं इसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है - यह बात बड़े-बड़े विद्वानों के ख्याल में नहीं थी। सम्यग्दर्शन भी पर्याय है, उसमें एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व है - यह भी किसी के ख्याल में नहीं था। ध्यान दिलाने पर भी लोग इस विवक्षा को नहीं समझते थे।

गुरुदेवश्री के पुण्यप्रताप से अब यह अवस्था हो गई है कि सब उसी को मानने लग गए हैं एवं जो सकल अविद्याओं की मूल है - ऐसी जो असमानजातीयद्रव्यपर्याय है, उस द्रव्यपर्याय में एकत्वबुद्धि को आज स्थूल बात कहने लगे हैं। स्वयं को बड़ा पण्डित माननेवाले कुछ लोग उसकी चर्चा करने में भी शर्म महसूस करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह स्थूल कथन है।

क्या अमृतचन्द्राचार्य छोटे पण्डित थे ? क्या प्रवचनसार स्थूल बातों का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ है ? अरे भाई ! इसी महाग्रन्थ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने यह लिखा है कि **'जो जीव मनुष्यादिक असमान-**

जातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वबुद्धि धारण करते हैं, वे आत्मा का अनुभव करने में नपुंसक है।'

आचार्य कहते हैं कि ऐसा जो मनुष्यव्यवहार है, उसका आश्रय करके यह जीव रागी–द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्म के साथ युक्त होकर वास्तव में परसमय होता हुआ परसमयरूप ही परिणमित होता है।

इससे हम यह समझ सकते हैं कि उस मनुष्यव्यवहार में एकत्वबुद्धि ही मिथ्यात्व है। 'मैं सम्यग्दर्शन हूँ, मैं केवलज्ञान हूँ।' – यह मनुष्यव्यवहार नहीं है। इस कथन से आशय मात्र इतना ही है कि यहाँ अमृतचन्द्राचार्यदेव ने स्वयं पूरा वजन असमानजातीयद्रव्यपर्याय पर ही दिया है।

स्वसमय और परसमय का तुलनात्मक विवेचन समयसार की आत्मख्याति टीका, प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका और पंचास्ति–काय की समयव्याख्या टीका के आधार पर समयसार अनुशीलन भाग–१ में इसप्रकार किया गया है –

''समयसार की दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार में आत्मस्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। इसीप्रकार समयसार में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार में पर्यायों में निरत आत्मा को परसमय कहा गया है।

उक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। आत्मस्वभाव में स्थित होने का नाम ही दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित होना है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र प्रगट होते हैं; उसी को आत्मस्वभाव में स्थित होना कहते हैं और उसी को दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित होना कहते हैं।

समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का अर्थ मोह–राग–द्वेषादि भावों में एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में पर्यायों में

निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों में एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या में आत्मख्याति में मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका टीका में मनुष्यादि असमानजातीयद्रव्यपर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है।

आत्मख्याति में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है। रागादि के साथ एकता की बात उपचरित-सद्भूतव्यवहार कहता है और मनुष्यदेहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहता है।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है और वे तीनों भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है; सम्यग्ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है; भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्पने में कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नहीं होती।

अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में चारित्र का अंश चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाता है और पूर्णता वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में निश्चय-चारित्र होता है।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नांकित तीन भागों में रखा जाता है -

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थ गुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थ

गुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो बारहवें गुणस्थान से आगेवाले ही स्वसमय कहलायेंगे।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय – यह अपेक्षा तो ठीक; पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे – स्वसमय या परसमय ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पंचास्तिकाय की १६५वीं गाथा द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है–

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोखं परसमयरदो हवदि जीवो।।

'शुद्धसम्प्रयोग से दु:खों से मोक्ष होता है' – अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है।

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है। वे आगे लिखते हैं कि यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहंताादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरंजित चित्तवृत्ति ही शुद्धसम्प्रयोग है। जब अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी 'उस शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' – ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तबतक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है; तो फिर निरंकुश रागरूपक्लेश से कलंकित अंतरंगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यों नहीं कहलायेंगे ?

उक्त गाथा और उसकी टीका दोनों ही गंभीर मंथन की अपेक्षा रखती हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि **'ज्ञानी भी अज्ञान से'** – यह गाथा का

वाक्य एवं **'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी'** यह टीका का वाक्य – ये दोनों ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है ?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है; तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना संभव नहीं होता; क्योंकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहंतादि की भक्ति से अनुरंजित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है – ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है। अत: यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नहीं है।

यदि औदयिक अज्ञान की बात नहीं है और ज्ञानी के क्षायोपशमिक अज्ञान होता ही नहीं है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, यहाँ मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है। इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहंत की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है – इस अभिप्राय वाले भी परसमय कहे जाते हैं तो फिर विषय-कषाय में सुखबुद्धि से निरंकुश प्रवृत्ति करनेवाले तो परसमय होंगे ही।

वस्तुत: तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नहीं; भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न ? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है। यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' – यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने में संकोच का अनुभव हो रहा है। उनका यह संकोच इस रूप में व्यक्त हुआ है कि वे कहते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है। यद्यपि गाथा में ऐसा कोई भेद नहीं किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखते हैं।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले

सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्मपरसमय हैं' – इसप्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने व्यक्त किया है। उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है –

कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासंयम में स्थित होने में अशक्त होता हुआ काम–क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पंचपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है; तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है – ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।

उक्त कथन में मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है। इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय हैं।[१]''

इस गाथा में मुख्यरूप से यह कहा गया है कि देह और उसमें विद्यमान आत्मा को मिलाकर हम स्वयं को मनुष्य कहते हैं और जिनवाणी में भी व्यवहारनय से इन्हें एक कहा गया है। समयसार की २७वीं गाथा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि देह और आत्मा को एक कहना तो मनुष्यव्यवहार है और देह में विद्यमान, पर देह से भिन्न आत्मा को अपना मानना–कहना आत्मव्यवहार है।

इस आत्मव्यवहार से अपरिचित जो प्राणी मनुष्यव्यवहार के आधार पर देहसंबंधी सम्पूर्ण क्रियाकलाप को छाती से लगाते हैं; धर्म मानकर उसका सेवन करते हैं, उक्त क्रियाकाण्ड करके स्वयं को धर्मात्मा समझते हैं; वे मिथ्यादृष्टि हैं, परसमय हैं और आत्मा का व्यवहार तो चेतनाविलास में अविचल रहना है; इसप्रकार जो ज्ञानी जीव उक्त आत्मव्यवहार को ही

१. समयसार अनुशीलन भाग–१, पृष्ठ–३४ से ३८

अपनी क्रिया मानते हैं, उसे ही धर्मरूप स्वीकार करते हैं; अनेक कमरों में घूमनेवाले रत्नदीपक की भाँति आत्मा को एकमात्र चेतनाविलासरूप स्वीकार करनेवाले वे ज्ञानी धर्मात्मा स्वसमय हैं।

जिसप्रकार भिन्न-भिन्न कमरों में ले जाया गया रत्नदीपक रत्नदीपकरूप ही रहता है, कमरों को प्रकाशित करने के कारण कमरोंरूप नहीं हो जाता और न कमरों की क्रिया को करता है; उसीप्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में रहनेवाला आत्मा आत्मारूप ही रहता है, वह किंचित्मात्र भी शरीररूप नहीं होता और न शरीर की क्रिया करता है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि देह और आत्मा की एकरूप मनुष्यादि पर्यायों में अपनापन रखना अर्थात् अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना परसमयपना है और एकमात्र आत्मा में अपनापन रखना अर्थात् अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखना स्वसमयपना है।

परमागम आगम का ही अंश है, जिसे अध्यात्म भी कहते हैं। ●

अध्यात्म में रंग, राग और भेद से भी भिन्न परमशुद्धनिश्चयनय व दृष्टि के विषयभूत एवं ध्यान के ध्येयरूप, परमपारिणामिकभाव-स्वरूप त्रैकालिक व अभेदस्वरूप निजशुद्धात्मा को ही जीव कहा जाता है। इसके अतिरिक्त सभी भावों को अनात्मा, अजीव, पुद्गल आदि नामों से कह दिया जाता है। इसका एकमात्र प्रयोजन दृष्टि को पर, पर्याय व भेद से भी हटाकर निज शुद्धात्मतत्त्व पर लाना है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और पूर्णता निजशुद्धात्मतत्त्व के आश्रय से ही होती है।

अध्यात्मरूप परमागम का समस्त कथन इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर होता है। **– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ-१०३**

प्रवचनसार गाथा–९५

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन महाधिकार द्रव्य–गुण–पर्याय की चर्चा से ही आरंभ हुआ है। इसमें यह कहा गया है कि पर्यायमूढ जीव परसमय हैं; इसकारण आरंभ में ही पर्यायों की चर्चा विस्तार से की गई है। इसी संदर्भ में पर्याय के द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय भेद भी किये गये और यह कहा गया असमानजातीयद्रव्यपर्याय में एकत्व ही मुख्यत: परसमयपना है।

अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि द्रव्य क्या है, जिसकी पर्यायों में अपनापन परसमयपना, मिथ्यात्व है।

इस शंका के समाधान के लिए आगामी गाथा में द्रव्य का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है –

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पाद–व्यय–ध्रुवत्तसंबंद्धं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति।।९५।।

(हरिगीत)

निजभाव को छोड़े बिना उत्पादव्ययध्रुवयुक्त गुण–
पर्ययसहित जो वस्तु है वह द्रव्य है जिनवर कहें।।९५।।

जो स्वभाव (सत्ता) को छोड़े बिना उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य – इन तीन से तथा गुण और पर्याय – इन दो से सहित है; उसे द्रव्य कहते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में द्रव्य के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए तीन सूत्र लिखे हैं; जो इसप्रकार हैं –

''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। सद् द्रव्यलक्षणं। गुणपर्ययवद् द्रव्यं।''

इनका अर्थ यह है कि सत् अर्थात् सत्ता द्रव्य का लक्षण है और वह सत्ता उत्पाद–व्यय तथा ध्रौव्य से युक्त होती है तथा सत् द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र और जिन–

प्रवचन के सार इस प्रवचनसार ग्रन्थ में समागत परिभाषाओं में रंचमात्र भी अन्तर नहीं है; तथापि प्रवचनसार की एक ही गाथा में तत्त्वार्थसूत्र के तीनों सूत्रों के भाव को समाहित कर लिया गया है।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्वप्रदीपिका टीका में इस प्रकार स्पष्ट करते हैं –

''स्वभावभेद किये बिना अर्थात् स्वभाव को छोड़े बिना उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य – इन दोनों से लक्षित द्रव्य है। इनमें से द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय है। अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

प्रादुर्भाव (प्रगट होना) को उत्पाद, प्रच्युति (नष्ट होना) को व्यय और अवस्थिति को ध्रौव्य कहते हैं।

विस्तारविशेष को गुण कहते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं – सामान्यगुण और विशेषगुण।

अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व और अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण हैं।

अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व और चेतनत्वादि विशेष गुण हैं।

आयत विशेष को पर्याय कहते हैं, जिनका प्रतिपादन विगत गाथाओं में हो चुका है। द्रव्य का उत्पादादि और गुण-पर्यायों से लक्ष्य-लक्षणभेद होने पर भी स्वभावभेद नहीं है, स्वरूप भेद नहीं है; क्योंकि वस्त्र के समान द्रव्य उत्पादादि और गुण-पर्यायों से युक्त होता है।

जिसप्रकार मलिन वस्त्र धोने पर निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार पूर्वावस्थारूप परिणत जो

द्रव्य उचित बहिरंग साधनों के सान्निध्य में अनेकप्रकार की अवस्थायें धारण करता है; वह अंतरंग साधनभूत स्वरूपकर्ता और स्वरूपकारण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उत्पाद से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र निर्मल अवस्था से उत्पन्न और मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र एक ही समय में निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ और टिकनेवाली अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है; इसीप्रकार वही द्रव्य एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ और टिकनेवाली द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है; किन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप शुक्लत्वादि गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वह वैसा है। इसीप्रकार वही द्रव्य विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।

जिसप्रकार वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायवर्ती तन्तुओं से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन तन्तुओं के साथ स्वरूप भेद नहीं है,

वह स्वरूप से ही वैसा है; उसीप्रकार वही द्रव्य आयतविशेषस्वरूप पर्यायों से लक्षित होता है; परन्तु उसका उन पर्यायों के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है।''

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति में तत्त्वप्रदीपिका में दिये गये वस्त्र का उदाहरण को तो संक्षेप में देते ही हैं; साथ में शुद्धात्मा का भी उदाहरण देते हुए तत्त्वप्रदीपिका के समान ही इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी भी प्रवचनसार परमागम में गाथा और उसकी तत्त्वप्रदीपिका टीका में प्रस्तुत समस्त विषयवस्तु को पाँच छन्दों में सांगोपांग प्रस्तुत करते हैं; जो मूलत: पठनीय हैं।

पण्डित देवीदासजी इस गाथा का भाव एक पद्य में इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

(सवैया तेईसा)

जो न तजै अपनै निज पोरिष कौं नित एक स्वरूप रहैगौ।
जो जग मैं उपजै विनसै सु तथा पुनि ध्रौव्य सुभाव गहैगौ।।
जो गुनवंत अनंत सही परजायनि के सु प्रवाह बहैगौ।
लक्षिन ये लखिये जिहि मैं तिहि सौं सु आचारज द्रव्य कहैगौ।।४।।

जो अपने पुरुषार्थ को नहीं छोड़ते और अपने स्वरूप में ही रहते हैं और इस जगत में जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को ग्रहण किये रहते हैं, जो अनन्त गुणवाले हैं और अनन्तानंत पर्यायों में बहते रहते हैं, परिणमित होते रहते हैं; जिनमें उक्त लक्षण पाये जाते हैं, उन्हें आचार्यदेव द्रव्य कहते हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''गाथा ९४ में जिस द्रव्य-गुण-पर्याय के पिण्ड को आत्मस्वभाव कहा था। उस स्वभाव की यहाँ बात नहीं है। यहाँ पर सत्ता गुण को आत्म-स्वभाव कहा है। उत्पाद, व्यय, ध्रुव, अस्तित्व से पृथक् नहीं हैं।

प्राप्त होकर उनकी द्रव्यसत्ता को बताते हैं, इसे जानने में कोई दुख नहीं है; इसके बदले जो उसमें कर्तापने की स्थापना करता है, वह परपदार्थों को ज्ञेय नहीं मानता; अपितु मैंने इतनों का किया-कराया है - ऐसा मान कर ममता का बोझ ढोता है; किन्तु यदि वस्तुस्वरूप का विचार करे तो यह ममता घट सकती है। स्वयं ध्रुव सत्तावाला है - ऐसा जाने तो किसी का बोझा नहीं लगे; त्रिकाली की रुचि करे तो विकार की अल्पता लगे और विकार की रुचि दूर होकर त्रिकाली स्वरूप में सुख भासित हो।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ प्रत्येक द्रव्य के अस्तित्व को ही द्रव्य का लक्षण माना गया है और उक्त अस्तित्व में गुण-पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी समाहित हो जाते हैं। इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य या उसके गुणों में जो उत्पादादिरूप परिणमन होता है, परिवर्तन होता है; वह अस्तित्वस्वभाव को छोड़े बिना ही होता है।

टीका में अस्तित्व के भेद स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व की भी चर्चा है और सामान्य-विशेष गुण भी बताये गये हैं। वस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह भी समझाया गया है कि अस्तित्व, गुण-पर्याय, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ द्रव्य का स्वरूप भेद नहीं है। यद्यपि उनमें लक्ष्य-लक्षणभेद है; तथापि स्वरूपभेद नहीं है।

जो लोग स्वरूप और लक्षण को एक ही मान लेते हैं; उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन का विशेष ध्यान देना चाहिए कि लक्षणभेद तो है, पर स्वरूपभेद नहीं है। यद्यपि स्वरूप और लक्षण में अन्तर है; तथापि ये उत्पादादि व गुण-पर्याय द्रव्य के स्वरूप भी हैं और लक्षण भी।

अस्तित्व सभी का एक है; अत: स्वरूप भेद नहीं है; पर सभी के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए लक्षण भेद है।

उक्त सभी के लक्षण टीका में दिये ही गये हैं; अत: यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-९१-९२

प्राप्त होकर उनकी द्रव्यसत्ता को बताते हैं, इसे जानने में कोई दुख नहीं है; इसके बदले जो उसमें कर्तापने की स्थापना करता है, वह परपदार्थों को ज्ञेय नहीं मानता; अपितु मैंने इतनों का किया-कराया है - ऐसा मान कर ममता का बोझ ढोता है; किन्तु यदि वस्तुस्वरूप का विचार करे तो यह ममता घट सकती है। स्वयं ध्रुव सत्तावाला है - ऐसा जाने तो किसी का बोझा नहीं लगे; त्रिकाली की रुचि करे तो विकार की अल्पता लगे और विकार की रुचि दूर होकर त्रिकाली स्वरूप में सुख भासित हो।[१]''

इसप्रकार हम देखते हैं कि यहाँ प्रत्येक द्रव्य के अस्तित्व को ही द्रव्य का लक्षण माना गया है और उक्त अस्तित्व में गुण-पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य भी समाहित हो जाते हैं। इस बात को भी स्पष्ट कर दिया गया है कि द्रव्य या उसके गुणों में जो उत्पादादिरूप परिणमन होता है, परिवर्तन होता है; वह अस्तित्वस्वभाव को छोड़े बिना ही होता है।

टीका में अस्तित्व के भेद स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व की भी चर्चा है और सामान्य-विशेष गुण भी बताये गये हैं। वस्त्र के उदाहरण के माध्यम से यह भी समझाया गया है कि अस्तित्व, गुण-पर्याय, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के साथ द्रव्य का स्वरूप भेद नहीं है। यद्यपि उनमें लक्ष्य-लक्षणभेद है; तथापि स्वरूपभेद नहीं है।

जो लोग स्वरूप और लक्षण को एक ही मान लेते हैं; उन्हें आचार्य अमृतचन्द्र के इस कथन का विशेष ध्यान देना चाहिए कि लक्षणभेद तो है, पर स्वरूपभेद नहीं है। यद्यपि स्वरूप और लक्षण में अन्तर है; तथापि ये उत्पादादि व गुण-पर्याय द्रव्य के स्वरूप भी हैं और लक्षण भी।

अस्तित्व सभी का एक है; अत: स्वरूप भेद नहीं है; पर सभी के लक्षण भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए लक्षण भेद है।

उक्त सभी के लक्षण टीका में दिये ही गये हैं; अत: यहाँ विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-९१-९२

महासत्ता सादृश्यास्तित्व का ही दूसरा नाम है एवं अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व का दूसरा नाम है।

अपने स्वभाव को छोड़े बिना – इस पद का अर्थ यह है कि वस्तु स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना सादृश्यास्तित्व में सम्मिलित है।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि आप दिगम्बर हैं या जैन हैं ?

हम जैन भी हैं और दिगम्बर भी हैं; क्योंकि दिगम्बर जैन हैं। दिगम्बर और जैन – दोनों का एक साथ होने में कोई विरोध नहीं है।

इसीप्रकार स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना हम सादृश्यास्तित्व में शामिल हैं। इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता और महासत्ता – दोनों से समृद्ध हैं; क्योंकि हम ज्ञानानन्दस्वभावी हैं। इसमें ज्ञानानन्दस्वभाव हमारी अवान्तरसत्ता है और 'हैं' अर्थात् अस्तित्व महासत्ता है।

हम चेतन होकर भी उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से संयुक्त और गुणपर्याय से युक्त द्रव्य हैं। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से युक्त और गुण–पर्यायों से सहित होना हमारी महासत्ता है और ज्ञानानन्दस्वभावी चेतन होना हमारी अवान्तर सत्ता है। महासत्ता से हम सबसे जुड़े हैं और अवान्तरसत्ता की वजह से हमारा अस्तित्व स्वतंत्र है।

इसप्रकार हमने स्वरूपास्तित्व को छोड़ा नहीं है और हम सादृश्या–स्तित्व में शामिल हैं। हम ऐसी महासत्ता के अंश हैं, जिसमें स्वरूपास्तित्व को छोड़ना जरूरी नहीं है। मैं अपने स्वरूपास्तित्व में भी शामिल हूँ एवं सादृश्यास्तित्व में भी शामिल हूँ।

इसप्रकार सभी जीव द्रव्य सादृश्यास्तित्व एवं स्वरूपास्तित्व से युक्त हैं। सभी का अस्तित्व समान है। आप भी अनंतगुणवाले हो एवं मैं भी अनंतगुणवाला हूँ, पुद्गल भी अनंतगुणवाला है। आप भी गुणपर्याय से युक्त हैं एवं मैं भी गुणपर्याय से युक्त हूँ। महासत्ता की अपेक्षा हम, तुम–सभी एक हैं, एक से हैं; अत: इस अस्तित्व का नाम सादृश्यास्तित्व है।

सादृश्य अर्थात् एक–सा होना। एक से होने में भी जगत में 'एक हैं' – ऐसा व्यवहार किया जाता है। हम सभी जैन एक हैं। हममें भी जैनत्व

की श्रद्धा है और आपमें भी जैनत्व की श्रद्धा है। इसप्रकार हम कहना तो यही चाहते हैं कि 'हम एक से हैं।' परंतु सादृश्यास्तित्व की लोक में ऐसी भाषा है कि उसे 'एक हैं' – ऐसा ही कहा जाता है; क्योंकि यदि 'एक-सा' ऐसा कहते हैं तो उसमें भेद नजर आता है; परंतु 'एक' ऐसा कहने में एकता नजर आती है।

अत: हमें यह अपने ज्ञान में समझ लेना चाहिए कि हम जो ऐसा कह रहे हैं कि हम सब जैन एक हैं, हम सब भारतीय एक हैं – यह सब सादृश्यास्तित्व की विवक्षा से कहा जा रहा है।

यद्यपि हम सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा से एक हैं; परंतु स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा से हम किसी से भी एक (अभेद) नहीं हैं। यह सादृश्यास्तित्व का जो कथन जिनागम में किया है, वह स्वरूपास्तित्व को छोड़े बिना है। हमने उस स्वरूपास्तित्व को छोड़कर पर के साथ एकत्व स्थापित कर लिया है – यही मिथ्यादर्शन है, यही पर्यायमूढता है, परसमयपना है।

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा हम सब एक हैं। इसप्रकार परपदार्थों से हमारा 'हैं' का सम्बन्ध है, अस्तित्व का संबंध है; परंतु इसमें प्रत्येक का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है – यही स्वरूपास्तित्व है। ●

---

(७) हे प्रभो ! चरणों में तेरे

हे प्रभो ! चरणों में तेरे आ गये ।
भावना अपनी का फल हम पा गये ।।टेक।।
वीतरागी हो तुम्हीं सर्वज्ञ हो, सप्त तत्त्वों के तुम्हीं मर्मज्ञ हो ।।
मुक्ति का मारग तुम्हीं से पा गये । हे प्रभो ! चरणों में...।।१।।
विश्व सारा है झलकता ज्ञान में, किन्तु प्रभुवर लीन हैं निज ध्यान में ।।
ध्यान में निज-ज्ञान को हम पा गये । हे प्रभो ! चरणों में...।।२।।
तुमने कहा है जगत के सब आत्मा । द्रव्य-दृष्टि से सदा परमात्मा ।।
आज निज परमात्मा पद पा गये । हे प्रभो ! चरणों में...।।३।।

प्रवचनसार गाथा–९६

विगत गाथा में द्रव्य की परिभाषा बताई गई है; जिसमें यह स्पष्ट किया गया है कि अस्तित्व दो प्रकार का होता है – स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व।

अब इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

गाथा मूलत: इसप्रकार है –

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं।।९६।।

(हरिगीत)

गुण–चित्रमयपर्याय से उत्पादव्ययध्रुवभाव से।
जो द्रव्य का अस्तित्व है वह एकमात्र स्वभाव है।।९६।।

गुण और अनेकप्रकार की पर्यायों तथा उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से द्रव्य का जो अस्तित्व सदाकाल है; वह वस्तुत: द्रव्य का स्वभाव है।

उक्त गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है और वह अस्तित्व अन्य साधनों से निरपेक्ष होने के कारण अनादि–अनंत होने से, अहेतुक एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवर्तित होने के कारण विभावधर्म से निरपेक्ष होने से, भाव और भाववानता के कारण अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व धारण करता हुआ अस्तित्व, द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो?

तात्पर्य यह है कि अनादि–अनंत होने से, विभावधर्म से विलक्षण होने से और प्रदेशभेद न होने से अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार वह अस्तित्व भिन्न–भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त हो जाता है; उसप्रकार द्रव्य–गुण–पर्याय में प्रत्येक में समाप्त नहीं होता;

क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है। यदि एक न हो तो दूसरा भी सिद्ध नहीं होता; इसलिए उनका अस्तित्व सोने की भाँति एक ही है।

जिसप्रकार जो द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोने से पृथक् दिखाई नहीं देते; उन पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से उत्पन्न पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है; उसीप्रकार जो द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से पृथक् दिखाई नहीं देते; उन गुणों और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से उत्पन्न गुणों और पर्यायों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो सोना पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता; उस सोने के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से उत्पन्न सोने का मूल साधनपने सोने से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से जो द्रव्य, गुणों और पर्यायों से पृथक् दिखाई नहीं देता, उस द्रव्य के स्वरूप को धारण करके कर्ता-करण-अधिकरणरूप से प्रवर्त्तमान गुणों और पर्यायों से उत्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने द्रव्य से निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव है।

इसप्रकार यहाँ गुण-पर्यायों से द्रव्य का और द्रव्य से गुण-पर्यायों का अस्तित्व सिद्ध किया गया है और उसे द्रव्य का स्वभाव बताया गया है।

जिसप्रकार सोने के उदाहरण से द्रव्य का और गुण-पर्यायों का एक ही अस्तित्व है - यह समझाया है; उसीप्रकार अब सोने के उक्त उदाहरण से ही यह समझाते हैं कि द्रव्य का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी एक ही अस्तित्व है और वह द्रव्य का स्वभाव है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से सोने से अपृथक् कर्ता-करण-अधिकरणरूप से कुण्डलादि उत्पादों के, वाजूबंदादि व्ययों के

और पीतत्वादि ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान सोने के अस्तित्व से निष्पन्न कुण्डलादि उत्पाद, बाजूबंदादि व्यय और पीतत्वादि ध्रौव्यों से जो सोने का अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से द्रव्य से अपृथक् कर्ता–करण–अधिकरण से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्त्तमान द्रव्य के अस्तित्व से निष्पन्न उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यों से जो द्रव्य का अस्तित्व है, वह द्रव्य का स्वभाव ही है।

जिसप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से कुण्डलादि उत्पादों, बाजू–बंदादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता–करण अधिकरणरूप से सोने के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान कुण्डलादि उत्पादों, बाजूबंदादि व्ययों और पीतत्वादि ध्रौव्यों से निष्पन्न सोने का मूल साधनपने से उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह सोने का स्वभाव ही है; उसीप्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल या भाव से उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यों से अपृथक् कर्ता–करण–अधिकरणरूप से द्रव्य के स्वभाव को धारण करके प्रवर्त्तमान उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यों से निष्पन्न द्रव्य का मूल साधनपने उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है; वह द्रव्य का स्वभाव ही है।''

उक्त टीका का संक्षिप्त सार यह है कि द्रव्य और अस्तित्व में प्रदेशभेद नहीं है। वह अस्तित्व अनादि–अनंत है, अहेतुक एकरूप परिणति से सदा परिणमित होता है; इसलिए विभाव धर्म से भिन्न है। ऐसा होने से वह अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

इसीप्रकार गुण–पर्यायों और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है, अभेद ही है; क्योंकि गुण–पर्यायें द्रव्य से ही निष्पन्न होती हैं और द्रव्य गुण–पर्यायों से निष्पन्न होता है।

इसीप्रकार उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य का और द्रव्य का अस्तित्व भी एक ही है; क्योंकि उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य द्रव्य से ही निष्पन्न होते हैं और द्रव्य उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यों से ही निष्पन्न होता है।

आचार्य जयसेन भी तात्पर्यवृत्ति में इस गाथा के भाव को सोने के उदाहरण से तत्त्वप्रदीपिका के समान ही स्पष्ट करते हैं।

कविवर वृन्दावनदासजी उक्त गाथा का भाव प्रवचनसार परमागम में २ मनहरण कवित्त और २ दोहा – इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं। गाथा और टीका का सम्पूर्ण भाव उक्त छन्दों में समाहित हो गया है; जो मूलत: पठनीय है; तथापि नमूने के तौर पर दोनों दोहे प्रस्तुत हैं –

(दोहा)

दरव स्वगुनपरजायकरि, उतपत–वय–ध्रुव–जुत्त।
रहत अनाहतरूप नित, यही स्वरूपास्तित्त।।
पर दरवनि के गुन परज, तिनसों मिलतौ नाहिं।
निज स्वभावसत्ताविषैं, प्रनमन सदा कराहिं।।

द्रव्य अपने गुण–पर्यायों के द्वारा उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और ध्रुवत्व से युक्त होकर सदा ही अनाहतरूप से रहता है। यही उसका स्वरूपास्तित्व है।

प्रत्येक द्रव्य परद्रव्यों के गुण–पर्यायों से मिलता नहीं है; अपनी स्वरूपसत्ता में ही सदा परिणमन करता है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा का भाव इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं –

''छहों द्रव्यों में दो प्रकार का अस्तित्व है –

१. स्वरूप अस्तित्व, २. सादृश्य अस्तित्व। आत्मा आदि सभी द्रव्य त्रिकाल अपने द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव से अभेद हैं और पर से अत्यंत पृथक् हैं – इसका नाम स्वरूप–अस्तित्व है।[१]

प्रत्येक द्रव्य में स्वभावरूप ऐसा स्वरूप–अस्तित्व है, वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता; इसीलिए अनादि–अनंत, अहेतुक, एकरूप अवस्था से सदा ही परिणमित होने से वह विभाव धर्म से पृथक लक्षणवाला है तथा उसमें अपूर्णता भी नहीं है।[२]

१. दिव्यध्वनिसार भाग–३, पृष्ठ–९७ २. वही, पृष्ठ–९७–९८

द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से स्वर्ण के अस्तित्व द्वारा उसके सभी गुण–पर्यायों को पहिचाना जा सकता है और पीलापन आदि गुणों तथा कुण्डलादि पर्यायों द्वारा स्वर्ण का अस्तित्व है – ऐसा पहिचाना जाता है, किन्तु किसी सोनी आदि संयोग से वह नहीं पहिचाना जाता – ऐसा स्वर्ण का स्वभाव है।[१]

एक समय की कुण्डलादि पर्याय सम्पूर्ण सोने को टिकाये रखती है – पीतादि गुणों और उसकी अवस्था न हो तो स्वर्ण ही न हो; इसलिए गुण–पर्यायों का अस्तित्व वही द्रव्य का अस्तित्व है – ऐसा प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव है।[२]

एक परमाणु की पर्याय के उत्पन्न होने अथवा बदलने का कारण कोई दूसरा परमाणु नहीं है तथा किसी की इच्छा–ज्ञानादि भी इसका कारण नहीं है। फूटने के समय यदि घड़ा नहीं फूटे और ठीकरे का उत्पाद न हो तो वस्तु का स्वरूप टिक (रह) नहीं सकता। मूलकारण को नहीं देखकर संयोग से देखनेवाले मूढजीव को असली वस्तुस्वरूप की सत्ता का सुनना भी अच्छा नहीं लगता। यह अरुचि उसके द्रव्य की पहिचान कराती है।[३]''

इसप्रकार इस गाथा में स्वरूपास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि स्वरूपास्तित्व प्रत्येक द्रव्य में अपना–अपना स्वतंत्र है।

तात्पर्य यह है कि हम किसी महासत्ता के अंश नहीं हैं, अपितु हमारी सत्ता पूर्णत: हम में ही है।

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देनेयोग्य है कि जिसप्रकार प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्णत: स्वतंत्र है; उसीप्रकार एक द्रव्य के अन्तर्गत होनेवाले गुणों की, प्रदेशों की और पर्यायों की सत्ता भिन्न–भिन्न नहीं है, अपितु एक ही है। तात्पर्य यह है द्रव्य, उसके गुण और उनकी पर्यायों में प्रदेशभेद नहीं हैं।●

---

१. दिव्यध्वनिसार भाग–३, पृष्ठ–९९
२. वही, पृष्ठ–१०५
३. वही, पृष्ठ–१०७

प्रवचनसार गाथा–९७

विगत गाथा में स्वरूपास्तित्व की चर्चा की गई; अब इस गाथा में सादृश्यास्तित्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। गाथा मूलत: इसप्रकार है –

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं।।९७।।

(हरिगीत)

रे सर्वगत सत् एक लक्षण विविध द्रव्यों का कहा।
जिनधर्म का उपदेश देते हुए जिनवरदेव ने।।९७।।

जिनवरवृषभ ने धर्म का उपदेश करते हुए इस विश्व में विविध लक्षण वाले द्रव्यों का 'सत्' ऐसा सर्वगत एक लक्षण कहा है।

तात्पर्य यह है कि अपने–अपने स्वरूपास्तित्व से सम्पन्न सभी द्रव्यों को मिलाकर एक लक्षण सत् (सादृश्यास्तित्व) है। ऐसा जिनवरदेव ने कहा है।

इस गाथा का भाव तत्त्वप्रदीपिका टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''यद्यपि इस लोक में विचित्रता से विस्तारित सभी द्रव्य अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त रहकर अपनी–अपनी सीमा में रहते हुए विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित होते हैं; तथापि सभी द्रव्यों का विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सभी द्रव्यों में प्रवृत्त होकर रहनेवाला, प्रत्येक द्रव्य की सीमा की उपेक्षा करता हुआ 'सत्' ऐसा जो सर्वग्राह्य सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है, वह वस्तुत: एक ही होता है।

इसप्रकार 'सत्' ऐसा वचन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) है। यदि वह सभी पदार्थों का स्मरण करानेवाला (सर्वपदार्थपरामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई

असत्, कोई सत्–असत् और कोई अवाच्य होना चाहिए; किन्तु यह तो विरुद्ध ही है; क्योंकि 'सत्' कथन और ज्ञान के सर्वपदार्थपरामर्शी होने की बात वृक्ष की भाँति सिद्ध होती है।

जिसप्रकार अनेकप्रकार के बहुत से वृक्षों के अपने–अपने विशेष–लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है; उसीप्रकार अनेक प्रकार के बहुत से द्रव्यों के अपने–अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले अनेकत्व को, सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाला एकत्व तिरोहित कर देता है।

जिसप्रकार इन्हीं वृक्षों के विषय में सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने–अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है; उसीप्रकार सर्व द्रव्यों के विषय में भी सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्पन्न होनेवाले एकत्व से तिरोहित होने पर भी अपने–अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपा–स्तित्व के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाला अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।''

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि जिसप्रकार आम, अशोक आदि अनेकप्रकार के अनेक वृक्षों का अपना–अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न–भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी वृक्षों में समानरूप से पाये जानेवाले वृक्षत्व की अपेक्षा सभी वृक्षों में एकत्व (अभिन्नत्व) है।

जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्य–अस्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्त्वि) गौण हो जाता है।

इसीप्रकार जीव, पुद्गल आदि अनेकप्रकार के अनेक द्रव्यों का

अपना-अपना स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है; इसलिए स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा उनमें अनेकत्व (भिन्नत्व) है; फिर भी सभी द्रव्यों में समानरूप से पाये जानेवाले द्रव्यत्व की अपेक्षा सभी द्रव्यों में एकत्व (अभिन्नत्व) है।

जब इस एकत्व अर्थात् सादृश्यास्तित्व को मुख्य करते हैं तो अनेकत्व (स्वरूपास्तित्व) गौण हो जाता है।

इसप्रकार जब सामान्य सत्पने की मुख्यता से लक्ष में लेने पर सभी द्रव्यों के एकत्व की मुख्यता होने से अनेकत्व गौण हो जाता है; तब भी वह अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है।

आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को सिद्धभगवान, सेना और वन के उदाहरण से इसीप्रकार स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जिसप्रकार मुक्तात्मा कहने से सभी सिद्धों का ग्रहण हो जाता है; सेना कहने पर घोड़ा, हाथी आदि पदार्थों का और वन कहने पर नीम, आम आदि वृक्षों का ग्रहण हो जाता है; उसीप्रकार 'सभी सत् हैं' - ऐसा कहने पर संग्रह नय से सभी पदार्थों का ग्रहण हो जाता है, सादृश्यास्तित्व नामक महासत्ता का ग्रहण हो जाता है।

कविवर वृन्दावनदासजी प्रवचनसार परमागम में इस गाथा के भाव को १ मनहरण और ३ दोहों -इसप्रकार ४ छन्दों में प्रस्तुत करते हैं; जिनमें से तीन दोहे इसप्रकार हैं -

(दोहा)

सहज स्वरूपास्तित्व करि, जुदे-जुदे सब दर्व।
निज-निज गुन लच्छन धरैं, है विचित्र गति पर्व।।
अरु सादृश्यास्त्वि करि, सब थिर थपन अबाध।
सत लच्छन के गहन तैं, यही एक निरुपाध।।
तिहूँकाल में जास को, बाधा लगै न कोय।
सोई सतलच्छन प्रबल, सब दरवनि में होय।।

प्रत्येक द्रव्य में सहजता से प्राप्त स्वरूपास्तित्व अर्थात् अवान्तरसत्ता

की अपेक्षा से सभी द्रव्य भिन्न–भिन्न ही हैं; क्योंकि वे सभी द्रव्य अपने–अपने लक्षणों को धारण किये हैं, उनसे वे पहिचाने जाते हैं। यह जगत का विचित्र स्वरूप है।

सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ता की अपेक्षा सभी स्थिर हैं, अबाधित हैं और सत् लक्षण से ग्रहण किये जाते हैं। यह एक निरुपाधि सत्य है।

जिसको तीनकाल में कहीं कोई बाधा नहीं लगती – ऐसा प्रबल सत् लक्षण सभी द्रव्यों में होता है।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए पण्डित देवीदासजी ने १ अडिल्ल, २ चौपाई और २ दोहे लिखे हैं; जो मूलत: पठनीय हैं।

नमूने के रूप में दोनों दोहे इसप्रकार हैं –

(दोहा)

आम–नीम आदिक सु ज्यौं तरवर बहुत प्रकार।
सो पुनि वृक्ष विचार करि एक रूप निरधार।।९।।
ज्यों स्वरूप अस्तित्व करि वस्तु प्रकार अनेक।
दीसे सो सादृस्यता सौं सु प्रगट विधि एक।।१०।।

जिसप्रकार आम, नीम आदि के रूप में वृक्ष अनेक प्रकार के होते हैं। यदि उनके बारे में एक वृक्षपने की अपेक्षा विचार किया जाय तो सभी एकरूप ही हैं; उसीप्रकार स्वरूपास्तित्व की अपेक्षा वस्तुएँ अनेक प्रकार की हैं। यदि उनके बारे में सादृश्यास्तित्व की अपेक्षा विचार करें तो सभी एकरूप ही हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इस गाथा और उसकी टीका का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''सर्व पदार्थों को सर्व प्रकार से एक अस्तित्व भाव द्वारा जानने पर कोई मिथ्या कल्पना नहीं होती। जैसे हैं, वैसा ज्ञान जानता है। किसी की निगोद पर्याय तो किसी की पूर्ण सिद्ध पर्याय, कोई साधक तो कोई विराधक आदि जैसे हैं वैसे हैं।[१]

१. दिव्यध्वनिसार भाग–३, पृष्ठ–११७

समस्त पदार्थ हैं – ऐसा कहने की योग्यता वचन की है। समस्त पदार्थ हैं, ऐसा जानने की योग्यता ज्ञान में है और समस्त पदार्थ हैं – ऐसी सत् सामान्यरूप ज्ञेयत्व की योग्यता उनमें है।[१]

सामान्य सत् का एकरूप होना मानने पर भी प्रत्येक के पृथक्त्व का नाश नहीं होता, अपितु प्रत्येक रजकण-रजकण पृथक् रहता है।[२]''

उक्त कथन का सार यह है कि सत्ता दो प्रकार की है – अवान्तरसत्ता और महासत्ता। अवान्तरसत्ता स्वरूपास्तित्व है; जो प्रत्येक द्रव्य में पृथक्-पृथक् है और उसके प्रदेशों, गुणों और पर्यायों में व्याप्त है।

महासत्ता वह सत्ता है, जो सामान्यरूप से सभी द्रव्यों में व्याप्त है, उनके गुण-पर्यायों में व्याप्त है। इसे सादृश्यास्तित्व भी कहते हैं।

इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि हमें अपना अपनत्व स्वरूपास्तित्व में रखना है, सदृशता के आधार पर सभी पदार्थों में नहीं।

स्वरूपास्तित्व में द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई बनाई गई है।

यह समयसार में वर्णित इकाई नहीं है; जिसमें द्रव्य से पर्याय को भिन्न कहा गया है, प्रदेशभेद एवं गुणभेद को भी भिन्न कहा गया है। यहाँ द्रव्य-गुण-पर्याय को मिलाकर एक इकाई है, जिसे स्वरूपास्तित्व कहा गया है।

प्रश्न – हमसे अतिरिक्त जो द्रव्य हैं, उनके साथ हमारी जो एकता की कल्पना है, वह किस आधार पर है, उसमें क्या हेतु है ?

उत्तर – इसमें हेतु मात्र इतना ही है कि वे भी हैं और हम भी हैं; इसप्रकार मात्र अस्तित्व का हेतु है। इसप्रकार मात्र 'है' की रिश्तेदारी है। मेरे और गधे के सींग में कोई संबंध नहीं है; क्योंकि गधे के सींग की न तो अवान्तरसत्ता है और न ही महासत्ता है; क्योंकि वह है ही नहीं और मैं हूँ। इसप्रकार तुम भी हो और मैं भी हूँ – इसप्रकार यहाँ 'है' का संबंध है।

१. दिव्यध्वनिसार भाग-३, पृष्ठ-११७ २. वही, पृष्ठ-१२४

अब आचार्य कह रहे हैं कि जिसने मात्र अस्तित्व संबंध के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर किसी पर से अपनापन स्थापित कर लिया; वह मिथ्यादर्शन का धारी मिथ्यादृष्टि है।

समयसार में यह बताया था कि सादृश्यास्तित्व के आधार पर स्वरूपास्तित्व को भूलकर संबंध स्थापित कर लेना मिथ्यात्व है तथा प्रवचनसार में यह बताया जा रहा है कि उससे मिथ्यात्व न हो जाय – इस डर से उस महासत्तावाले तथ्य से इन्कार करना भी मिथ्यादर्शन ही है।

महासत्ता से लेकर अवान्तरसत्ता के मध्य अनन्त सत्ताएँ हैं। 'हम सब एक हैं' – इसमें शुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है। इसके पश्चात् 'हम सब मनुष्य हैं' – इसमें भी अशुद्धमहासत्ता की अपेक्षा है।

'हम सब ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हैं' – यह भी महासत्ता ही है, सादृश्यास्तित्व ही है। अवान्तरसत्ता अपने द्रव्य–गुण–पर्याय के बाहर नहीं निकलती है; जबकि महासत्ता में सबको शामिल किया गया है। इसप्रकार महासत्ता और अवान्तरसत्ता के मध्य अगणित सत्ताएँ हैं।

जिसमें सबकुछ आ जाय, वह शुद्धमहासत्ता है और जिसमें सबकुछ तो न आवे; पर बहुतकुछ आ जाय; वह अशुद्धमहासत्ता है। 'हम सब हैं' यह शुद्धमहासत्ता का उदाहरण है और 'हम सब मनुष्य हैं' – यह अशुद्धमहासत्ता का उदाहरण है।

शुद्धसंग्रहनय में शुद्धमहासत्ता की विवक्षा है और अशुद्धसंग्रहनय में अशुद्धमहासत्ता की विवक्षा है। ऋजुसूत्रनय मात्र अवान्तरसत्ता को ग्रहण करता है। व्यवहारनय शुद्धमहासत्ता में तबतक भेद करता है कि जबतक अवान्तरसत्ता तक न पहुँच जावें। इसीप्रकार संग्रहनय अवान्तर सत्ताओं का तबतक संग्रह करता है कि जबतक शुद्ध महासत्ता तक न पहुँच जावें।

ये संग्रहनय और व्यवहारनय परस्पर विरुद्ध कार्य करनेवाले भी हैं और एक–दूसरे के पूरक भी हैं।

व्यवहारनय हमें शुद्धमहासत्ता से अवान्तरसत्ता तक लाता है और

संग्रहनय अवान्तरसत्ता से शुद्ध महासत्ता तक ले जाता है। इस प्रक्रिया से वस्तु के स्वरूप की जानकारी निर्मल होती है।

ध्यान रहे यह व्यवहारनय निश्चय-व्यवहारवाला व्यवहारनय नहीं है; यह तो नैगमादि सप्त नयों में आनेवाला व्यवहारनय है। इस व्यवहारनय का जोड़ा निश्चयनय से नहीं है; अपितु संग्रहनय से है।

'हम सब एक हैं' - ऐसा कहा, इसमें 'हैं' के आधार पर शुद्ध महासत्ता है अर्थात् इसमें सब सन्मात्र के आधार पर एक हो गए हैं। फिर 'चेतन' ऐसा भेद किया है, उसमें चेतनता भी महासत्ता का ही भेद है, इसमें अवान्तर सत्ता नहीं है; क्योंकि चेतनता सब जीवों में है; जबकि दो जीवों की अवान्तरसत्ता पृथक्-पृथक् है। मेरी चेतना अलग है एवं आपकी चेतना अलग है; इसप्रकार हम अवान्तरसत्ता तक तो आए नहीं। यह तो मात्र जीवत्व एवं द्रव्यत्व की पहचान है। यहाँ 'स्व' की पहचान नहीं है।

'जीवत्व' यह मेरी पहचान नहीं है। जीवत्व इस लक्षण में अनंत जीव समाहित होते हैं। फिर जीव से अलग होकर 'मनुष्य' पर आए; मनुष्य देवों तथा नारकियों से पृथक् हैं; किन्तु मनुष्य भी २९ अंकप्रमाण हैं। इन सभी को 'मनुष्य' इस महासत्ता में समाहित कर लिया; इसलिए यह शुद्ध नहीं है; यह अशुद्धमहासत्ता है।

वस्तुत: हम महासत्ता से अवान्तरसत्ता अर्थात् सादृश्यास्तित्व से स्वरूपास्तित्व तक आएँ, अपने अस्तित्व तक आएँ; ऐसी स्थिति में जितने भी संबंध स्थापित होंगे, वे सब सदृशता के आधार पर स्थापित होने के कारण महासत्ता के आधार पर ही स्थापित होंगे।

यह सब शुद्धमहासत्ता तथा अशुद्धमहासत्ता के आधार पर ही होता है।

स्वरूपास्तित्व के अतिरिक्त कोई भी हमारा नहीं है। इसे छोड़कर सभी संबंध असद्भूत हैं।

पर के साथ में हमारा जो महासत्ता संबंधी संबंध है; उससे इन्कार कर

देना भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व के छूटे बिना अन्य मिथ्यात्व छूटेगा ही नहीं।

इस महासत्ता की ओर किसी का भी ध्यान नहीं है। आज तो सभी स्वरूपास्तित्व अर्थात् एक आत्मद्रव्य के भीतर जो गुण–पर्याय के भेद हैं, उन्हीं में उलझ कर रह गये हैं। सभी लोग भगवान आत्मा के स्वरूपास्तित्व के अन्दर ही स्व–पर भेद करने में जुटे हैं।

अरे भाई ! जो प्रदेशभेद, गुणभेद और पर्यायों से पृथकता की बात है, वह तो विकल्पों की उत्पत्ति न हो – इस अपेक्षा से कही गई है। वह तो प्रयोजनवश किया गया कथन है; वस्तु का मूलस्वरूप तो स्वरूपास्तित्व की मर्यादा में ही है।

यह तो आप जानते ही हैं कि स्वरूपास्तित्व में एक द्रव्य के द्रव्य–गुण–पर्याय – सभी समाहित हो जाते हैं। ●

---

(५) अशरीरी सिद्ध भगवान

अशरीरी-सिद्ध भगवान, आदर्श तुम्हीं मेरे ।
अविरुद्ध शुद्ध चिदघन, उत्कर्ष तुम्हीं मेरे ।। टेक ।।

सम्यक्त्व सुदर्शन ज्ञान, अगुरुलघु अवगाहन ।
सूक्ष्मत्व वीर्य गुणखान, निर्बाधित सुखवेदन ।।
हे गुण अनन्त के धाम, वन्दन अगणित मेरे ।।१।।

रागादि रहित निर्मल, जन्मादि रहित अविकल ।
कुल गोत्र रहित निश्कुल, मायादि रहित निश्छल ।।
रहते निज में निश्चल, निष्कर्म साध्य मेरे ।।२।।

रागादि रहित उपयोग, ज्ञायक प्रतिभासी हो ।
स्वाश्रित शाश्वत-सुख भोग, शुद्धात्म-विलासी हो ।।
हे स्वयं सिद्ध भगवान, तुम साध्य बनो मेरे ।।३।।

भविजन तुम सम निज-रुप ध्याकर तुम सम होते ।
चैतन्य पिण्ड शिवभूप होकर सब दुःख खोते ।।
चैतन्यराज सुखखान, दुःख दूर करो मेरे ।।४।।

व्यवहाराभासी मिथ्यादृष्टि

अब, व्यवहाराभासपक्षके धारक जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण करते हैं :–

जिनागममें जहाँ व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है, उसे मानकर बाह्यसाधनादिकहीका श्रद्धानादिक करते हैं, उनके सर्वधर्मके अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभावको प्राप्त होते हैं – सो विशेष कहते हैं।

यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिसे पुण्यबन्ध होता है, इसलिये पापप्रवृत्ति की अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहारप्रवृत्तिहीसे सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं होते हैं, उन्हें मोक्षमार्गमें सन्मुख करनेके लिये उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्ति का भी निषेधरूप निरूपण करते हैं।

यह जो कथन करते हैं उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभमें प्रवृत्ति करोगे तब तो तुम्हारा बुरा होगा; और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे – कोई रोगी निर्गुण औषधीका निषेध सुनकर औषधी साधनको छोड़कर कुपथ्य करे तो वह मरेगा, उसमें वैद्यका कुछ दोष नहीं है; उसी प्रकार कोई संसारी पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय–कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादिमें दुःख पायेगा। उपदेशदाताका तो दोष है नहीं। उपदेश देनेवाले का अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगानेका जानना।

सो ऐसे अभिप्रायसे यहाँ निरूपण करते हैं।

[कुलअपेक्षा धर्मधारक व्यवहाराभासी]

यहाँ कोई जीव तो कुलक्रमसे ही जैनी है, जैनधर्मका स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुलमें जैसी प्रवृत्ति चली आयी है वैसे प्रवर्तते है। वहाँ जिस प्रकार अन्यमती अपने कुलधर्म में प्रवर्तते हैं उसी प्रकार यह प्रवर्तते हैं। यदि कुलक्रमहीसे धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। जैनधर्म की विशेषता क्या रही?

वही कहा है :–

लोयम्मि रायणीई णायं ण कुलकम्मि कइयावि ।
किं पुण तिलोय पहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि ।। ७।।

(उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला)

अर्थ :– लोकमें यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रमसे न्याय नहीं होता है। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़लें तो उसका कुलक्रम जानकर छोड़ते नहीं हैं, दण्ड ही देते हैं। तो त्रिलोकप्रभु जिनेद्रदेवके धर्मके अधिकारमें क्या कुलक्रमानुसार न्याय संभव है?

तथा यदि पिता दरिद्री हो और आप धनवान हो, तब वहाँ तो कुलक्रमका विचार करके आप दरिद्री रहता ही नहीं, तो धर्ममें कुलका क्या प्रयोजन है? तथा पिता नरकमें जाये और पुत्र मोक्ष जाता है, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा? यदि कुलपर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी होना चाहिये। इसलिये धर्ममें कुलक्रमका कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

शास्त्रोंका अर्थ विचारकर यदि कालदोषसे जिनधर्ममें भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव–कुगुरु–कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषय–कषाय पोषनादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलाई गई हो, तो उसका त्याग करके जिन आज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।

यहाँ कोई कहे कि परम्परा छोड़कर नवीन मार्गमें प्रवर्तन करना योग्य नहीं है?

उससे कहते हैं – यदि अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषोंने बीचमें अन्यथा प्रवृत्ति चलाई हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जा सकता है? तथा उसे छोड़कर पुरातन जैनशास्त्रोंमें जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जा सकता है?

तथा यदि कुलमें जैसी जिनदेवकी आज्ञा है, उसी प्रकार धर्मकी प्रवृत्ति है तो अपनेको भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है; परन्तु उसे कुलाचार न जान धर्म जानकर, उसके स्वरूप फलादिकका निश्चय करके अंगीकार करना। जो सच्चे भी धर्मको कुलाचार जानकर प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते; क्योंकि सर्व कुलके उस आचरणको छोड़ दें तो आप भी छोड़ देगा। तथा वह जो आचरण करता है सो कुलके भयसे करता है, कुछ धर्मबुद्धिसे नहीं करता, इसलिये वह धर्मात्मा नहीं है।

इसलिये विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्योंमें तो कुलक्रमका विचार करना, परन्तु धर्म सम्बन्धी कार्यमें कुलका विचार नहीं करना। जैसा धर्ममार्ग सच्चा है, उसी प्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।

[परीक्षारहित आज्ञानुसारी धर्मधारक व्यवहाराभासी]

तथा कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्रमें आज्ञा है उस प्रकार मानते हैं, परन्तु आज्ञाकी परीक्षा करते नहीं। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने–अपने शास्त्रकी आज्ञा मानकर धर्मात्मा हो जायें; इसलिये परीक्षा करके जिनवचनकी सत्यता पहिचानकर जिनआज्ञा मानना योग्य है।

बिना परीक्षा किये सत्य–असत्यका निर्णय कैसे हो? और बिना निर्णय किये जिस प्रकार अन्यमती अपने शास्त्रोंकी आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार इसने जैनशास्त्रोंकी आज्ञा मानी। यह तो पक्षसे आज्ञा मानना है।

कोई कहे कि शास्त्रमें दस प्रकारके सम्यक्त्वमें आज्ञासम्यक्त्व कहा है व आज्ञाविचय धर्मध्यानका भेद कहा है व नि:शंकित अंगमें जिनवचनमें संशयका निषेध किया है; वह किस प्रकार है?

समाधान :– शास्त्रमें कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष–अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं, तथा कई कथन ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर नहीं हैं; इसलिये आज्ञाही से प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रोंमें जो कथन समान हों उनकी तो परीक्षा करनेका प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हों उनमेंसे जो कथन प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर हों उनकी तो परीक्षा करना। वहाँ जिन शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रोंमें जो प्रत्यक्ष–अनुमानगोचर नहीं हैं – ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना। तथा जिन शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता न ठहरे उनके सर्व ही कथनकी अप्रमाणता मानना।

यहाँ कोई कहे कि परीक्षा करने पर कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो; तब क्या करें?

समाधान :– जो आप्त–भासित शास्त्र हैं उनमें कोई भी कथन प्रमाण–विरुद्ध नहीं होते। क्योंकि या तो जानपना ही न हो अथवा राग–द्वेष हो तब असत्य कहें, सो आप्त ऐसे होते नहीं। तूने परीक्षा भलेप्रकार नहीं की, इसलिये भ्रम है।

फिर वह कहता है – छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाये तो वह क्या करे?

समाधान :– सच्ची–झूठी दोनों वस्तुओंको कसनेसे और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करनेसे तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपातके कारण भलेप्रकार परीक्षा न करे, वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

तथा वह कहता है कि शास्त्रोंमें परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन–किनकी परीक्षा की जाये?

समाधान :– मोक्षमार्गमें देव–गुरु–धर्म, जीवादि तत्त्व व बन्ध–मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रोंमें यह सच्चे कहे हों उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा नहीं मानना।

जैसे – लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्योंमें कैसे झूठ बोलेगा? उसी प्रकार जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत देवादिकका स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजनरहित द्वीप–समुद्रादिकका कथन अन्यथा कैसे होगा? क्योंकि देवादिकका कथन अन्यथा करनेसे वक्ताके विषय–कषायका पोषण होता है।

प्रश्न :– देवादिकका अन्यथा कथन तो विषय–कषायवश किया; परन्तु उन्हीं शास्त्रोंमें अन्य कथन अन्यथा किसलिये किये?

समाधान :– यदि एक ही कथन अन्यथा करे तो उसका अन्यथापना शीघ्र प्रगट हो जायेगा और भिन्न पद्धति ठहरेगी नहीं; इसलिये बहुत कथन अन्यथा करनेसे भिन्न पद्धति ठहरेगी। वहाँ तुच्छबुद्धि भ्रममें पड़ जाते हैं कि यह भी मत है, यह भी मत है। इसलिये प्रयोजनभूतका अन्यथापना मिलाने के लिये अप्रयोजनभूत कथन भी अन्यथा बहुत किये हैं तथा प्रतीति करानेके अर्थ कोई–कोई सच्चे कथन भी किये हैं। परन्तु जो चतुर हो सो भ्रममें नहीं पड़ता। प्रयोजनभूत कथनकी परीक्षा करके जहाँ सत्य भसित हो, उस मतकी सर्व आज्ञा माने।

सो परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है – अन्य नहीं; क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ–वीतराग हैं, वे झूठ किसलिये कहेंगे? इसप्रकार जिनआज्ञा माननेसे जो सच्चा श्रद्धान हो, उसका नाम आज्ञासम्यक्त्व है। और वहाँ एकाग्र चिंतवन होनेसे उसीका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

यदि ऐसा न मानें और बिना परीक्षा किये ही आज्ञा माननेसे सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो जाये तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यन्त जाते हैं; उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा? इसलिये कुछ परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है। लोकमें भी किसी प्रकार परीक्षा होनेपर ही पुरुष की प्रतीति करते हैं।

तथा तूने कहा कि जिनवचनमें संशय करनेसे सम्यक्त्वके शंका नामक दोष होता है; सो 'न जाने यह किस प्रकार है' – ऐसा मानकर निर्णय न करे वहाँ शंका नामक दोष होता है तथा निर्णय करनेका विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोष लगता हो तो अष्टसहस्त्रीमें

आज्ञाप्रधानसे परीक्षाप्रधानको उत्तम किसलिये कहा? पृच्छना आदि स्वाध्यायके अंग कैसे कहे? प्रमाण–नयसे पदार्थोंका निर्णय करनेका उपदेश किसलिये दिया? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है।

तथा कितने ही पापी पुरुषोंने अपने कल्पित कथन किये हैं और उन्हें जिनवचन ठहराया है, उन्हें जैनमतके शास्त्र जानकर प्रमाण नहीं करना। वहाँ भी प्रमाणादिकसे परीक्षा करके, व परस्पर शास्त्रोंसे विधि मिलाकर, व इसप्रकार सम्भव है या नहीं – ऐसा विचार करके विरुद्ध अर्थको मिथ्या ही जानना।

जैसे – किसी ठगने स्वयं पत्र लिखकर उसमें लिखनेवालेका नाम किसी साहूकारका रखा; उस नामके भ्रमसे धनको ठगाये तो दरिद्री होगा। उसी प्रकार पापी लोगोंने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर वहाँ कर्त्ताका नाम जिन, गणधर, आचार्योंका रखा; उस नामके भ्रमसे झूठा श्रद्धान करे तो मिथ्यादृष्टि ही होगा।

तथा वह कहता है – गोम्मटसार[१] में ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे झूठ भी श्रद्धान करे तो आज्ञा माननेसे सम्यग्दृष्टि ही है। सो यह कथन कैसे किया?

उत्तर :– जो प्रत्यक्ष–अनुमानादिगोचर नहीं है, और सुक्ष्मपनेसे जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है; परन्तु मूलभूत देव–गुरु–धर्मादि तथा तत्त्वादिकका अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सर्वथा सम्यक्त्व रहता नहीं है – यह निश्चय करना। इसलिये बिना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना।

तथा कितने ही परीक्षा करके भी जैनी होते हैं; परन्तु मूल परीक्षा नहीं करते। दया, शील, तप, संयमादि क्रियाओं द्वारा; व पूजा, प्रभावनादि कार्योंसे; व अतिशय चमत्कारादिसे व जिनधर्मसे इष्ट प्राप्ति होनेके कारण जिनमतको उत्तम जानकर, प्रीतिवंत होकर जैनी होते हैं। सो अन्यमतोंमें भी ये कार्य तो पाये जाते हैं; इसलिये इन लक्षणोंमें तो अतिव्याप्ति पाया जाता है।

कोई कहे – जैसे जिनधर्ममें ये कार्य हैं, वैसे अन्यमतोंमें नहीं पाये जाते; इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है?

समाधान :– यह तो सत्य है, ऐसा ही है। परन्तु जैसे तू दयादिक मानता है उसी प्रकार तो वे भी निरूपण करते हैं। परजीवोंकी रक्षाको दया तू कहता है, वही वे कहते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना।

फिर वह कहता है – उनके ठीक नहीं है; क्योंकि कभी दया प्ररूपित करते हैं, कभी हिंसा प्ररूपित करते हैं?

उत्तर :– वहाँ दयादिकका अंशमात्र तो आया; इसलिये अतिव्याप्तिपना इन लक्षणोंके पाया जाता है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा होती नहीं।

तो कैसे होती है? जिनधर्ममें सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिकका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है, व उनको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है, व वास्तवमें रागादिक मिटने पर सम्यक्चारित्र होता है। सो इनके स्वरूपका जैसा जिनमतमें निरूपण किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया, तथा जैनीके सिवाय अन्यमती ऐसा कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह जिनमतका सच्चा लक्षण है। इस

१ समाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ।। २७ ।। (जीवकाण्ड)

लक्षणको पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही श्रद्धानी हैं। इसके सिवाय जो अन्य प्रकार से परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

तथा कितने ही संगतिसे जैनधर्म धारण करते हैं, कितने ही महान पुरुषको जिनधर्ममें प्रवर्तता देख आप भी प्रवर्तते हैं, कितने ही देखादेखी जिनधर्मकी शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओंमें प्रवर्तते हैं। – इत्यादि अनेक प्रकारके जीव आप विचारकर जिनधर्मका रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं। वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना।

इतना तो है कि जिनमतमें पापकी प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्यके निमित्त बहुत हैं, तथा सच्चे मोक्षमार्गके कारण भी वहाँ बने रहते हैं; इसलिये जो कुलादिसे भी जैनी हैं, वे भी औरोंसे तो भले ही हैं।

[सांसारिक प्रयोजनार्थ धर्मधारक व्यवहाराभासी]

तथा जो जीव कपटसे आजीविकाके अर्थ, व बड़ाईके अर्थ, व कुछ विषय–कषाय–सम्बन्धी प्रयोजन विचारकर जैनी होते हैं; वे तो पापी ही हैं। अति तीव्र कषाय होनेपर ऐसी बुद्धि आती है। उनका सुलझना भी कठिन है। जैनधर्मका सेवन तो संसार–नाशके लिये किया जाता है; जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिये वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई कहे – हिंसादि द्वारा जिन कार्योंको करते हैं; वही कार्य धर्म–साधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ? दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं?

उससे कहते हैं – पापकार्य और धर्मकार्य का एक साधन करनेसे पाप ही होता है। जैसे – कोई धर्मका साधन चैत्यालय बनवाये और उसीको स्त्री–सेवनादि पापोंका भी साधन करे तो पाप ही होगा। हिंसादि द्वारा भोगादिकके हेतु अलग मकान बनवाता है तो बनवाये, परन्तु चैत्यालयमें भोगादि करना योग्य नहीं है। उसी प्रकार धर्मका साधन पूजा, शास्त्रादिक कार्य हैं; उन्हींको आजीविकादि पापका भी साधन बनाये तो पापी ही होगा। हिंसादिसे आजीविकादिके अर्थ व्यापारादि करता है तो करे, परन्तु पूजादि कार्योंमें तो आजीविकादिका प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन कर पर–घर भोजन करते हैं तथा साधर्मी साधर्मी का उपकार करते–कराते हैं सो कैसे बनेगा?

उत्तर :– वे आप तो कुछ आजीविकादिका प्रयोजन विचारकर धर्म–साधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयमेव भोजन उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप भोजनादिकका प्रयोजन विचारकर धर्म–साधता है तो पापी है ही। जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं उनको भोजनादिकका प्रयोजन नहीं है। शरीरकी स्थितिके अर्थ स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते हैं – संक्लेशरूप नहीं होते। तथा अपने हितके अर्थ धर्म साधते हैं। उपकार करवानेका अभिप्राय नहीं है, और आपके जिसका त्याग नहीं है वैसा उपकार कराते हैं। कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे, और यदि न करे तो उन्हें कुछ संक्लेश होता नहीं। – सो ऐसा तो योग्य है। परन्तु आपही आजीवकादिका प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्मका साधन करे, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करे वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे, अथवा धर्म–साधनमें शिथिल हो जाये; तो उसे पापी ही जानना।

इसप्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही।

इसप्रकार जिनमतवाले भी मिथ्यादृष्टि जानना।

[उक्त व्यवहाराभासी धर्मधारकोंकी सामान्य प्रवृत्ति]

अब, इनके धर्म का साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं :–

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्तिसे अथवा देखा–देखी लोभादिके अभिप्रायसे धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुखसे पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजनके अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठमें क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिककी भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव–गुरु–शास्त्रादि व कुदेव–गुरु–शास्त्रादिकी विशेष पहिचान नहीं है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र–अपात्रके विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो वह कार्य करता है; परिणामोंकी पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं उनका विचार ही नहीं है, तथा बाह्यमें भी रागादिके पोषणके साधन करता है।

तथा पूजा–प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोकमें बढ़ाई हो, व विषय–कषायका पोषण हो उस प्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है।

सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवोंके परिणाम सुधारनेके अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो वह कार्य करना कहा है। सो परिणामोंकी तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है – ऐसे नफा–टोटेका ज्ञान नहीं है व विधि–अविधिका ज्ञान नहीं है।

तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि बाँचता है तो औरोंको सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यासका प्रयोजन है उसे आप अन्तरंगमें नहीं अवधारण करता। – इत्यादि धर्मकार्योंके मर्मको नहीं पहिचानता।

कितने तो जिस प्रकार कुलमें बड़े प्रवर्तते हैं उसी प्रकार हमें भी करना, अथवा दूसरे करते हैं वैसा हमें भी करना व ऐसा करनेसे हमारे लोभादिककी सिद्धि होगी– इत्यादि विचारसहित अभूतार्थधर्मको साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकार भी धर्मका साधन करते हैं और कुछ आगे कहते हैं उस प्रकारसे अपने परिणामोंको भी सुधारते हैं– मिश्रपना पाया जाता है।

तथा कितने ही धर्मबुद्धिसे धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चयधर्मको नहीं जानते, इसलिये अभूतार्थरूप धर्मको साधते हैं। वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रको मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं।

सम्यग्दर्शन का अन्यथारूप

वहाँ शास्त्रमें देव–गुरु–धर्मकी प्रतीति करनेसे सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्रके अतिरिक्त औरोंको नमस्कारादि करनेका त्याग किया है; परन्तु उनके गुण–अवगुणकी परीक्षा नहीं करते, अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्यलक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं। – ऐसी प्रतीति से सुदेव–गुरु–शास्त्रोंकी भक्तिमें प्रवर्तते हैं।

देवभक्तिका अन्यथारूप

वहाँ अरहन्तदेव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशयसहित हैं, क्षुधादि दोषरहित है, शरीरकी सुन्दरताको धारण करते हैं, स्त्री–संगमादिरहित हैं, दिव्यध्वनी द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानते हैं, काम–क्रोधादिक नष्ट किये हैं – इत्यादि विशेषण कहे हैं। वहाँ इनमेंसे कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं, उनको भिन्न–भिन्न नहीं पहिचानते। जिस प्रकार कोई असमानजातीय मनुष्यादि पर्यायोंमें जीव–पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसी प्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्तपर्यायमें जीव–पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है।

तथा जो बाह्य विशेषण हैं उन्हें तो जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना विशेष मानता है, और जो जीवके विशेषण हैं उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है। क्योंकि यथावत् जीवके विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।

तथा उन अरहन्तोंको स्वर्ग–मोक्षदाता, दीनदयाल, अधमउधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्त्तृत्वबुद्धिसे ईश्वरको मानता है; उसी प्रकार यह अरहन्तको मानता है। ऐसा नहीं जानता कि फल तो अपने परिणामोंका लगता है, अरहन्त उनको निमित्तमात्र है, इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं।

अपने परिणाम शुद्ध हुए बिना अरहन्त ही स्वर्ग–मोक्षादिके दाता नहीं है। तथा अरहन्तादिकके नामादिकसे श्वानादिकने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिकका ही अतिशय मानते हैं; परन्तु बिना परिणामके नाम लेनेवालोंको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती, तब सुननेवालोंको कैसे होगी? श्वानादिकको नाम सुननेके निमित्तसे कोई मन्दकषायरूप भाव हुए हैं उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचारसे नामहीकी मुख्यता की है।

तथा अरहन्तादिकके नाम–पूजनादिकसे अनिष्ट सामग्रीका नाश तथा इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति मानकर रोगादि मिटानेके अर्थ व धनादिककी प्राप्तिके अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट–अनिष्टका कारण तो पूर्वकर्मका उदय है, अरहन्त तो कर्त्ता है नहीं। अरहन्तादिककी भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामोंसे पूर्वपापके संक्रमणादि हो जाते हैं, इसलिये उपचारसे अनिष्टके नाशका व इष्टकी प्राप्तिका कारण अरहन्तादिककी भक्ति कही जाती है। परन्तु जो जीव प्रथमसे ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पापही का अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए – उनसे पूर्वपापके संक्रमणादि कैसे होंगे? इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

तथा कितने ही जीव भक्तिको मुक्तिका कारण जानकर वहाँ अति अनुरागी होकर प्रवर्तते हैं। वह तो अन्यमती जैसे भक्तिसे मुक्ति मानते हैं वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो रागरूप है और रागसे बन्ध है, इसलिये मोक्षका कारण नहीं है। जब रागका उदय आता है तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभराग छोड़नेके लिये ज्ञानी भक्तिमें प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्गको बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं; परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर संतुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोगके उद्यमी रहते हैं।

वहीं पंचास्तिकाय व्याख्यामें कहा है :– **इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानरागनिषेदार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति।।**[१]

अर्थ :– यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीवके होती है। तथा तीव्ररागज्वर मिटानेके अर्थ या कुस्थानके रागका निषेध करनेके अर्थ कदाचित् ज्ञानीके भी होती है।

वहाँ वह पूछता है – ऐसा है तो ज्ञानीसे अज्ञानीके भक्तिकी अधिकता होती होगी?

उत्तर :– यथार्थताकी अपेक्षा तो ज्ञानीके सच्ची भक्ति है, अज्ञानीके नहीं है। और रागभावकी अपेक्षा अज्ञानीके श्रद्धानमें भी उसे मुक्तिका कारण जाननेसे अति अनुराग है, ज्ञानीके श्रद्धानमें शुभबन्धका कारण जाननेसे वैसा अनुराग नहीं है। बाह्यमें कदाचित् ज्ञानीको अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानीको होता है – ऐसा जानना।

इस प्रकार देवभक्तिका स्वरूप बतलाया।

गुरुभक्तिका अन्यथारूप

अब, गुरुभक्ति उसके कैसी होती है सो कहते हैं :–

कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो – यह जैनके साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करनी – ऐसा विचारकर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं। वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसीसे क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरोंको धर्ममें लगाते हैं – इत्यादि गुणोंका विचार कर उनमें भक्तिभाव करते हैं। परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक अन्यमतियोंमें तथा जैनी मिथ्यादृष्टियोंमें भी पाये जाते हैं, इसलिये इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती।

तथा जिन गुणोंका विचार करते हैं उनमें कितनेही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्याय में एकत्वबुद्धिसे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग वह ही मुनियोंका सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहते नहीं। इसप्रकार यदि मुनियोंका सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? पुण्यबन्धके कारणभूत शुभक्रियारूप गुणोंको पहिचानकर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं।

इस प्रकार गुरुभक्तिका स्वरूप कहा।

---

१ अयं हि स्थूललक्षणतया केवलभक्तिप्रधान्यस्याज्ञानिनो भवति । उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग निषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थ वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति। (गाथा १३६ की टीका)

शास्त्रभक्तिका अन्यथारूप

अब, शास्त्रभक्तिका स्वरूप कहते हैं :–

कितने ही जीव तो यह केवली भगवानकी वाणी है। इसलिये केवलीके पूज्यपनेके कारण यह भी पूज्य है – ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इसप्रकार परीक्षा करते हैं कि इन शास्त्रोंमें विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिकका निरूपण है इसलिये यह उत्कृष्ट हैं – ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदान्तादिकमें भी पाया जाता है।

तथा इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिकका गम्भीर निरूपण है, इसलिये उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं। परन्तु यहाँ अनुमानादिकका तो प्रवेश है नहीं, इसलिये सत्य–असत्यका निर्णय करके महिमा कैसे जानें? इसलिये इस प्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती। यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादितत्त्वोंका निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है। उसीसे जैनशास्त्रोंकी उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहती नहीं।

इस प्रकार शास्त्रभक्तिका स्वरूप कहा।

❄

इस प्रकार इसको देव–गुरु–शास्त्रकी प्रतीति हुई, इसलिये व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीतिके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये मिथ्यादृष्टि ही है।

सप्ततत्त्वका अन्यथारूप

तथा शास्त्रमें **"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"** (तत्त्वार्थसूत्र १–२) ऐसा वचन कहा है – इसलिये शास्त्रोंमें जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है, औरोंको उपदेश देता है; परन्तु उन तत्त्वोंका भाव भासित नहीं होता और यहाँ उस वस्तुके भावहीका नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धान कैसे होगा? भाव भासन क्या है? सो कहते हैं :–

जैसे कोई पुरुष चतुर होनेके अर्थ शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्छना, रागोंका स्वरूप और ताल–तानके भेदको सीखता है; परन्तु स्वरादिका स्वरूप नहीं पहिचानता। स्वरूपकी पहिचान हुए बिना अन्य स्वरादिकको अन्य स्वरादिकरूप मानता है, अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता है; इसलिये उसके चतुरपना नहीं होता। उसी प्रकार कोई जीव सम्यक्त्वी होनेके अर्थ शास्त्र द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप सीख लेता है; परन्तु उनके स्वरूपको नहीं पहिचानता है स्वरूपको पहिचाने बिना अन्य तत्त्वोंको अन्य तत्त्वरूप मान लेता है, अथवा सत्य भी मनाता है तो निर्णय करके नहीं मानता; इसलिये उसके सम्यक्त्व नहीं होता । तथा जैसे कोई शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो; परन्तु स्वरादिके स्वरूपको पहिचानता है तो वह चतुर ही है। उसी प्रकार शास्त्र पढ़ा हो या न पढ़ा हो; यदि जीवादिकके स्वरूपको पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। जैसे हिरन स्वर–रागादिकका नाम नहीं जानता परन्तु उसके स्वरूपको पहिचानता है; उसी प्रकार तुच्छबुद्धि जीवादिकका नाम नहीं जानते परन्तु उनके स्वरूपको पहिचानते हैं कि –

'यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं'; – इस प्रकार स्वरूपको पहिचाने उसका नाम भाव भासना है। शिवभूति मुनि जीवादिकका नाम नहीं जानते थे, और 'तुषमाषभिन्न'१ ऐसा रटने लगे। सो यह सिद्धान्त का शब्द था नहीं; परन्तु स्व–परके भावरूप ध्यान किया, इसलिये केवली हुए। और ग्यारह अंगके पाठी जीवादि तत्त्वोंके विशेष भेद जानते हैं; परन्तु भाव भासित नहीं होता, इसलिये मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

अब, इसके तत्त्वश्रद्धान किस प्रकार होता है सो कहते हैं :–

जीव-अजीवतत्त्वका अन्यथारूप

जिनशास्त्रोंसे जीवके त्रस–स्थावरादिरूप तथा गुणस्थान–मार्गणादिरूप भेदको जानता है, अजीवके पुद्गलादि भेदोंको तथा उनके वर्णादि विशेषोंको जानता है; परन्तु अध्यात्मशास्त्रोंमें भेदविज्ञानको कारणभूत व वीतरागदशा होनेको कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता।

तथा किसी प्रसंगवश उसीप्रकार जानना होजाये तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है; **परन्तु अपनेको आपरूप जानकर परका अंश भी अपनेमें न मिलाना और अपना अंश भी परमें न मिलाना - ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है।** जैसे अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार बिना पर्यायबुद्धिसे जानपनेमें व वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करते हैं; उसीप्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश–उपवासादि क्रियाओंमें अपनत्व मानता है।

तथा कभी शास्त्रानुसार सच्ची बात भी बनाता है; परन्तु अंतरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। इसलिये जिस प्रकार मतवाला माताको माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते।

तथा जैसे किसी और की ही बातें कर रहा हो, उस प्रकारसे आत्माका कथन करता है; परन्तु यह आत्मा 'मैं हूँ' – ऐसा भाव भासित नहीं होता।

तथा जैसे किसी और को औरसे भिन्न बतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिसे भिन्न हूँ – ऐसा भाव भासित नहीं होता।

तथा पर्यायमें जीव–पुद्गलके परस्पर निमित्तसे अनेक क्रियाएँ होती है, उन्हें दोनों द्रव्योंके मिलापसे उत्पन्न हुई जानता है; यह जीवकी क्रिया है उसका पुद्गल निमित्त है, यह पुद्गलकी क्रिया है उसका जीव निमित्त है– ऐसा भिन्न–भिन्न भाव भासित नहीं होता।

इत्यादि भाव भासित हुए बिना उसे जीव–अजीवका सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते; क्योंकि जीव–अजीवको जाननेका तो यह ही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।

आस्रवतत्त्वका अन्यथारूप

तथा आस्रवतत्त्वमें जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनो ही कर्मबन्धके कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है वही समयसारके बन्धादिकारमें कहा है[१] :–

सर्व जीवोंके जीवन–मरण, सुख–दुःख अपने कर्मके निमित्तसे होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीवके इन कार्योंका कर्त्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बन्धका कारण है। वहाँ अन्य जीवको जिलानेका अथवा सुखी करनेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबन्धका कारण है, और मारने अथवा दुखी करनेका अध्यवसाय हो वह पापबन्धका कारण है।

---

१ तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडं जाओ।। भावपहुड़ ५३ ।।

इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबन्धके कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्धके कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बन्धका कारण जानकर हेय ही मानना।

हिंसामें मारनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणतिसे आप ही पाप बाँधता है। अहिंसामें रक्षा करनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणतिसे आप ही पुण्य बाँधता है। इसप्रकार यह दोनों हेय है; जहाँ वीतराग होकर दृष्टाज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है।

सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; **परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि यह भी बन्धका कारण है, हेय है; श्रद्धानमें इसे मोक्षमार्ग जानेतो मिथ्यादृष्टि ही होता है।**

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग – ये आस्रवके भेद हैं; उन्हें बाह्यरूप तो मानता है, परन्तु अंतरंग इन भावोंकी जातिको नहीं पहिचानता।

वहाँ अन्य देवादिके सेवनरूप गृहितमिथ्यात्वको मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादि अगृहितमिथ्यात्व है उसे नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य त्रस–स्थावरकी हिंसा तथा इन्द्रिय–मनके विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; **हिंसामें प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवनमें अभिलाषा मूल है** उसका अवलोकन नहीं करता ।

तथा बाह्य क्रोधादिक करना उसको कषाय जानता है, अभिप्रायमें राग–द्वेष बस रहे हैं उनको नहीं पहिचानता।

तथा बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगोंको नहीं जानता।

इस प्रकार आस्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

तथा राग–द्वेष–मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करनेकी चिन्ता नहीं और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटानेका उपाय रखता है; सो उनके मिटानेसे आस्रव नहीं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्य देवादिककी सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयोंमें नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन–वचन–कायको रोकता है; तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। तथा कपटसे भी वे कार्य नहीं करता है, कपटसे करे तो ग्रैवेयकपर्यन्त कैसे पहुँचे? इसलिये जो अन्तरंग अभिप्रायमें मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं वे ही आस्रव हैं।

उन्हें नहीं पहिचानता इसलिये इसके आस्रवतत्त्वका भी सत्य श्रद्धान नहीं है।

बन्धतत्त्वका अन्यथारूप

तथा बन्धतत्त्वमें जो अशुभभावोंसे नरकादिरूप पापका बन्ध हो उसे तो बुरा जानता है और शुभभावोंसे देवादिरूप पुण्यका बन्ध हो उसे भला जानता है। परन्तु सभी जीवोंके दुःखसामग्रीमें द्वेष और सुख–सामग्रीमें राग पाया जाता है, सो इसके भी राग–द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्याय सम्बन्धी सुख–दुःखसामग्रीमें राग–द्वेष करना है वैसा ही आगामी पर्याय सम्बन्धी सुख–दुःखसामग्रीमें राग–द्वेष करना है।

१ समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा समयसारके निम्नलिखित कलश –
सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।। १६८ ।।
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्म्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ।। १६९ ।।

तथा शुभ–अशुभ भावोंसे पुण्य–पापका विशेष तो अघातिकर्मोंमें होता है, परन्तु अघातिकर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं। तथा शुभ–अशुभभावोंमें घातिकर्मोंका तो निरन्तर बन्ध होता है, वे सर्व पापरूप ही हैं, और वही आत्मगुण के घातक हैं। इसलिये अशुद्धभावोंसे कर्म बन्ध होता है, उसमें भला–बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है।

सो ऐसे श्रद्धानसे बन्धका भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

संवरतत्त्वका अन्यथारूप

तथा संवरतत्त्वमें अहिंसादिरूप शुभास्रवभावोंको संवर जानता है। परन्तु एक ही कारणसे पुण्यबन्ध भी माने और संवर भी माने वह नहीं हो सकता।

प्रश्न :– मुनियोंके एक कालमें एक भाव होता है, वहाँ उनके बन्ध भी होता है और संवर–निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है?

समाधान :– वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बन्ध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बनते हैं, परन्तु एक प्रशस्तरागहीसे पुण्यास्रव भी मानना और संवर–निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभावमें भी यह सरागता है, यह वीतरागता है – ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिहीके होती है, इसलिये अवशेष सरागताको हेयरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिये सरागभावमें संवरके भ्रमसे प्रशस्तरागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धा करता है।

तथा सिद्धान्तमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र – इनके द्वारा संवर होता है ऐसा कहा है,[१] सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता।

किस प्रकार? सो कहते हैं :–

गुप्ति :- बाह्य मन–वचन–कायकी चेष्टा मिटाये, पाप–चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे; उसे वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मनमें भक्ति आदिरूप प्रशस्तरागसे नाना विकल्प होते हैं, वचन–कायकी चेष्टा स्वयंने रोक रखी है; वहाँ शुभप्रवृत्ति है, और प्रवृत्तिमें गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिये वीतरागभाव होनेपर जहाँ मन–वचन–कायकी चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

समिति :- तथा परजीवोंकी रक्षाके अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति उसको समिति मानता है। सो हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है और रक्षाके परिणामोंसे संवर कहोगे तो पुण्यबन्धका कारण कौन ठहरेगा? तथा एषणासमितिमें दोष टालता है वहाँ रक्षाका प्रयोजन है नहीं; इसलिये रक्षाहीके अर्थ समिति नहीं है।

तो समिति कैसी होती है? मुनियोंके किंचित राग होनेपर गमनादिक्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओंमें अतिआसक्तताके अभावसे प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इसप्रकार सच्ची समिति है।

धर्म :- तथा बन्धादिकके भयसे अथवा स्वर्ग–मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे – कोई राजादिकके भयसे

---

१ स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः। (तत्त्वार्थसूत्र ९–२)

अथवा महंतपनेके लोभसे परस्त्रीका सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिकका त्यागी नहीं है। तो कैसे त्यागी होता है? पदार्थ अनिष्ट–इष्ट भासित होनेसे क्रोधादिक होते हैं; जब तत्त्वज्ञानके अभ्याससे कोई इष्ट–अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते; तब सच्चा धर्म होता है।

अनुप्रेक्षा :- तथा अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिकको बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना; उसका नाम अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ; उसी प्रकार शरीरादिक से राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपना और शरीरादिकका जहाँ–जैसा स्वभाव है वैसा पहिचानकर, भ्रमको मिटाकर, भला जानकर, राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना; ऐसी सच्ची उदासीनताके अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिकका चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

परीषहजय :- तथा क्षुधादिक होनेपर उनके नाशका उपाय नहीं करना; उसे परीषह सहना कहता है। सो उपाय तो नहीं किया और अंतरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेपर दुःखी हुआ, रति आदिका कारण मिलनेपर सुखी हुआ; तो वे दुःख–सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्त्तध्यान–रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो? इसलिये दुःखका कारण मिलनेपर दुःखी न हो और सुखका कारण मिलनेपर सुखी न हो, ज्ञेयरूपसे उनका जाननेवाला ही रहे; वही सच्चा परीषहसहन है।

चारित्र :- तथा हिंसादि सावद्ययोगके त्यागको चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोगको उपादेयपने से ग्राह्य मानता है। **परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें आस्रव पदार्थका निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रतको भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हों? तथा आस्रव तो बन्धका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंको चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसीका नाम चारित्र है।**

जो चारित्रमोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह चारित्रका मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोगका ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोषवाली हरितकायका त्याग करता है, और कितनी ही हरितकायोंका भक्षण करता है; परन्तु उसे धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करते हैं, और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं; परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदोंमें महाव्रतादि कैसे कहे हैं?

समाधान :– वह व्यवहार चारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचारका है। सो महाव्रतादि होनेपर ही वीतरागचारित्र होता है – ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादिमें चारित्रका उपचार किया है; निश्चयसे निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।

इस प्रकार संवरके कारणोंको अन्यथा जानते हुए संवरका सच्चा श्रद्धानी नहीं होता।

निर्जरातत्त्वका अन्यथारूप

तथा यह अनशनादि तपसे निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करनेसे तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के अर्थ करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है, इसलिये उपचारसे तपको भी निर्जराका कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहना ही निर्जराका कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख–तृषादि सहते हैं।

तब वह कहता है – वे तो पराधीनतासे सहते हैं; स्वाधीनतासे धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादिरूप तप करे उसके निर्जरा होती है।

समाधान :– धर्मबुद्धिसे बाह्य उपवासादि तो किये; और वहाँ उपयोग अशुभ, शुभ, शुद्धरूप जैसा परिणमित हो वैसा परिणमो। यदि बहुत उपवासादि करनेसे बहुत निर्जरा हो, थोड़े करनेसे थोड़ी निर्जरा हो – ऐसा नियम ठहरे; तब तो उपवासादिक ही मुख्य निर्जराका कारण ठहरेगा; सो तो बनता नहीं। परिणाम दुष्ट होनेपर उपवासादिकसे निर्जरा होना कैसे संभव है?

यदि ऐसा कहें कि जैसा अशुभ, शुभ, शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो उसके अनुसार बन्ध–निर्जरा है; तो उपवासादि तप मुख्य निर्जराका कारण कैसे रहा? अशुभ–शुभपरिणाम बन्धके कारण ठहरे, शुद्धपरिणाम निर्जराके कारण ठहरे।

प्रश्न :– तत्त्वार्थसूत्रमें **"तपसा निर्जरा च"** (९–३) ऐसा कैसे कहा है?

समाधान :– शास्त्रमें **"इच्छानिरोधस्तपः"**[१] ऐसा कहा है; इच्छाको रोकना उसका नाम तप है। सो शुभ–अशुभ इच्छा मिटनेपर उपयोग शुद्ध हो वहाँ निर्जरा है। इसलिये तपसे निर्जरा कही है।

यहाँ कहता है – आहारादिरूप अशुभकी तो इच्छा दूर होनेपर ही तप होता है; परन्तु उपवासादिक व प्रायश्चित्तादिक शुभ कार्य हैं इनकी इच्छा तो रहती है?

समाधान :–ज्ञानीजनोंको उपवासादिककी इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोगकी इच्छा है; उपवासादि करनेसे शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिये उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादिसे शरीर या परिणामोंकी शिथिलता के कारण शुद्धोपयोगको शिथिल होता जाने तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं। यदि उपवासादिकहीसे सिद्धि हो तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्तिभी बहुत थी। परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

प्रश्न :– यदि ऐसा है तो अनशनादिकको तप संज्ञा कैसे हुई?

समाधान :– उन्हें बाह्य तप कहा है। सो बाह्यका अर्थ यह है कि 'बाहरसे औरोंको दिखायी दे कि यह तपस्वी है'; परन्तु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होंगे वैसा ही पायेगा, क्योंकि परिणामशुन्य शरीरकी क्रिया फलदाता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि शास्त्रमें तो अकाम–निर्जरा कही है। वहाँ बिना इच्छाके भूख–प्यास आदि सहनेसे निर्जरा होती है; तो फिर उपवासादि द्वारा कष्ट सहनेसे कैसे निर्जरा न हो?

समाधान :– अकाम–निर्जरामें भी बाह्य निमित्त तो बिना इच्छाके भूख–प्यासका सहन करना हुआ है, और वहाँ मन्दकषायरूप भाव हो; तो पापकी निर्जरा होती है, देवादि पुण्यका बन्ध होता है। परन्तु यदि तीव्रकषाय होनेपर भी कष्ट सहनेसे पुण्यबन्ध होता हो तो सर्व तिर्यंचादिक देव ही हों, सो बनता नहीं है। उसी प्रकार इच्छापूर्वक उपवासादि करनेसे वहाँ भूख–प्यासादि कष्ट सहते हैं, सो यह बाह्य निमित्त है; परन्तु वहाँ जैसा परिणाम हो वैसा फल पाता है। जैसे अन्नको प्राण कहा उसी प्रकार। तथा इस प्रकार बाह्य साधन होने से अंतरंग तपकी वृद्धि होती है इसलिये उपचारसे इनको तप कहा है; परन्तु यदि बाह्य तप तो करे और अंतरंग तप न हो तो उपचारसे भी उसे तप संज्ञा नहीं है। कहा भी है :–

१ धवला पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः ।।

जहाँ कषाय–विषय और आहारका त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना। शेषको श्रीगुरु लंघन कहते हैं।

यहाँ कहेगा – यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेंगे ?

उससे कहते है – उपदेश तो ऊँचा चढ़नेको दिया जाता है; तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करेंगे ? यदि तू मानादिकसे उपवासादि करता है तो कर या मत कर; कुछ सिद्धि नहीं है और यदि धर्मबुद्धिसे आहारादिकका अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा; परन्तु इसीको तप जानकर इससे निर्जरा मानकर संतुष्ट मत हो।

तथा अंतरंग तपोंमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ – उनमें बाह्य प्रवर्तन उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया हैं; इसलिये प्रायश्चित्तादि बाह्यसाधन अंतरंग तप नहीं हैं। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होनेपर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उसका नाम अंतरंग तप जानना।

वहाँ भी इतना विशेष है कि बहुत शुद्धता होनेपर शुद्धोपयोगरूप परिणति होती है वहाँ तो निर्जरा ही है; बन्ध नहीं होता। और अल्प शुद्धता होनेपर शुभोपयोगका भी अंश रहता है; इसलिये जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है उससे बन्ध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ बन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

यहाँ कोई कहे कि शुभभावोंसे पापकी निर्जरा होती है, पुण्यका बन्ध होता है; परन्तु शुद्धभावोंसे दोनोंकी निर्जरा होती है – ऐसा क्यों नहीं कहते ?

उत्तर :– मोक्षमार्गमें स्थितिका तो घटना सभी प्रकृतियोंका होता है; वहाँ पुण्य–पापका विशेष है ही नहीं। और अनुभागका घटना पुण्य–प्रकृतियोंमें शुद्धोपयोगसे भी नहीं होता। ऊपर–ऊपर पुण्यप्रकृतियोंके अनुभागका तीव्र बन्ध–उदय होता है और पापप्रकृतियोंके परमाणु पलटकर शुभप्रकृतिरूप होते हैं – ऐसा संक्रमण शुभ तथा शुद्ध दोनों भाव होनेपर होता है; इसलिये पूर्वोक्त नियम संभव नहीं है, विशुद्धताहीके अनुसार नियम संभव है।

देखो, चतुर्थगुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास, आत्मचिंतवन आदि कार्य करे – वहाँ भी निर्जरा नहीं, बन्ध भी बहुत होता है। और पंचमगुणस्थानवाला विषयसेवनादि कार्य करे – वहाँ भी उसके गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है, बन्ध भी थोड़ा होता है। तथा पंचमगुणस्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चित्तादि तप करे उस कालमें भी उसके निर्जरा थोड़ी होता है। और छठवें गुणस्थानवाला आहार–विहारादि क्रिया करे उस कालमें भी उसके निर्जरा बहुत होती है, तथा बन्ध उससे थोड़ा होता है।

इसलिये बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नहीं है, अंतरंग कषायशक्ति घटनेसे विशुद्धता होनेपर निर्जरा होती है। सो इसके प्रगट स्वरूपका आगे निरूपण करेंगे वहाँसे जानना।

इस प्रकार अनशनादि क्रियाको तपसंज्ञा उपचारसे जानना। इसीसे इसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचारका एक अर्थ है। तथा ऐसे साधनसे जो वीतरागभावरूप विशुद्धता हो वह सच्चा तप निर्जराका कारण जानना।

यहाँ दृष्टान्त है – जैसे धनको व अन्नको प्राण कहा है। सो धनसे अन्न लाकर, उसका भक्षण करके प्राणोंका पोषण किया जाता है; इसलिये उपचारसे धन और अन्नको प्राण कहा है। कोई इन्द्रियादिक प्राणोंको न जाने और इन्हींको प्राण जानकर संग्रह करे तो मरणको ही प्राप्त होगा। उसी प्रकार अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधनसे प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके वीतरागभावरूप सत्य तपका पोषण किया जाता है; इसलिये उपचारसे अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तपको न जाने और इन्हींको तप जानकर संग्रह करे तो संसारही में भ्रमण करेगा।

बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधनकी अपेक्षा उपचारसे किये हैं उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। इस रहस्यको नहीं जानता इसलिये उसके निर्जराका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।

मोक्षतत्त्वका अन्यथारूप

तथा सिद्ध होना उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म–मरण–रोग–क्लेशादि दुःख दूर हुए अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोकका जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ, – इत्यादि रूपसे उसकी महिमा जानता है। सो सर्व जीवोंके दुःख दूर करनेकी, ज्ञेय जाननेकी, तथा पूज्य होनेकी इच्छा है। यदि इन्हींके अर्थ मोक्षकी इच्छा की तो इसके अन्य जीवोंके श्रद्धानसे क्या विशेषता हुई ?

तथा इसके ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्गमें सुख है उससे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। सो इस गुणाकारमें वह स्वर्ग–मोक्षसुखकी एक जाति जानता है वहाँ स्वर्गमें तो विषयादिक सामग्रीजनित सुख होता है, उसकी जाती इसे भासित होती है; परन्तु मोक्षमें विषयादिक सामग्री है नहीं, सो वहाँके सुखकी जाति इसे भासित तो नहीं होती; परन्तु महान पुरुष स्वर्गसे भी मोक्षको उत्तम कहते हैं इसलिये यह भी उत्तम ही मानता है। जैसे – कोई गायनका स्वरूप न पहिचाने; परन्तु सभाके सर्व लोग सराहना करते हैं इसलिये आपभी सराहना करता है। उसी प्रकार यह मोक्षको उत्तम मानता है।

यहाँ वह कहता है – शास्त्रमें भी तो इन्द्रादिकसे अनन्तगुना सुख सिद्धोंके प्ररूपित किया है ?

उत्तर :– तीर्थंकरके शरीरकी प्रभाको सूर्यप्रभासे कोटि गुनी कही, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें सूर्यप्रभाकी महिमा है, उससे भी अधिक महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं। उसी प्रकार सिद्धसुखको इन्द्रादिसुखसे अनन्तगुना कहा है, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें इन्द्रादिसुखकी महिमा है, उससे भी बहुत महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं।

फिर प्रश्न है कि वह सिद्धसुख और इन्द्रादिसुखकी एक जाति जानता है– ऐसा निश्चय तुमने कैसे किया ?

समाधान :– जिस धर्मसाधनका फल स्वर्ग मानता है, उस धर्मसाधनहीका फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ उन दोनोंको एक जातिके धर्मका फल हुआ मानता है। ऐसा तो मानता है कि जिसके साधन थोड़ा होता है वह इन्द्रादिपद प्राप्त करता है, जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु वहाँ धर्मकी जाति एक जानता है। सो जो कारणकी एक जाति जाने, उसे कार्यकी भी एक जातिका श्रद्धान अवश्य हो; क्योंकि कारणविशेष होनेपर ही कार्यविशेष होता है। इसलिये

हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्रायमें इन्द्रादिसुख और सिद्धसुखकी एक जातिका श्रद्धान है।

तथा कर्मनिमित्तसे आत्माके औपाधिक भाव थे, उनका अभाव होनेपर आप शुद्धस्वभावरूप केवल आत्मा हुआ। जैसे – परमाणु स्कन्धसे पृथक् होनेपर शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह कर्मादिकसे भिन्न होकर शुद्ध होता है। विशेष इतना कि वह दोनों अवस्थामें दुःखी–सुखी नहीं है; परन्तु आत्मा अशुद्ध अवस्थामें दुःखी था, अब उसका अभाव होने से निराकुल लक्षण अनन्तसुखकी प्राप्ति हुई।

तथा इन्द्रादिकके जो सुख है वह कषाय भावोंसे आकुलतारूप है, सो वह परमार्थसे दुःख ही है; इसलिये उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्गसुखका कारण प्रशस्तराग है, और मोक्षसुखका कारण वीतरागभाव है; इसलिये कारणमें भी विशेष है; परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता।

इसलिये मोक्षका भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है।

इसप्रकार इसके सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं है। इसलिये समयसारमे [१] कहा है कि अभव्यको तत्त्वश्रद्धान होनेपर भी मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसारमें कहा है कि आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है।

तथा व्यवहारदृष्टिसे सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे है उनको यह पालता है, पच्चीस दोष कहे हैं उनको टालता है, संवेगादिक गुण कहे हैं उनको धारण करता है; परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेतके सब साधन करनेपर भी अन्न नहीं होता; उसी प्रकार सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। पंचास्तिकाय व्याख्यामें जहाँ अन्तमें व्यवहाराभासवालेका वर्णन किया है वहाँ ऐसा ही कथन किया है।

इसप्रकार इसको सम्यग्दर्शनके अर्थ साधन करनेपर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

सम्यग्ज्ञानका अन्यथारूप

अब, शास्त्रमें सम्यग्ज्ञानके अर्थ शास्त्राभ्यास करनेसे सम्यग्ज्ञान होना कहा है; इसलिये यह शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, बाँचना, पढ़ना आदि क्रियाओंमें तो उपयोग को रमाता है; परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है। इस उपदेशमें मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है; स्वयं शास्त्राभ्यास करके औरोंको सम्बोधन देनेका अभिप्राय रखता है, और बहुतसे जीव उपदेश मानें वहाँ सन्तुष्ट होता है; परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है और अवसर पाकर परका भी भला होता हो तो परका भी भला करे। तथा कोई उपदेश न सुने तो मत सुनों– स्वयं क्यों विषाद करे? शास्त्रार्थका भाव जानकर अपना भला करना।

तथा शास्त्राभ्यासमें भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रोंका बहुत अभ्यास करते हैं; परन्तु वे तो लोकमें पांडित्य प्रगट करनेके कारण हैं, उनमें आत्महितका निरूपण तो है नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है कि अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महितके साधक शास्त्रोंका अभ्यास करना। यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महितके साधक सुगम शास्त्रोंका ही अभ्यास करे। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादिका ही अभ्यास करते–करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न बने।

---

१ गाथा २७६–२७७ की आत्मख्याति टीका

यहाँ कोई कहे – ऐसा है तो व्याकरणादिका अभ्यास नहीं करना चाहिये?

उससे कहते हैं कि उनके अभ्यासके बिना महान ग्रन्थोंका अर्थ खुलता नहीं है, इसलिये उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

फिर प्रश्न है कि – महान ग्रन्थ ऐसे क्यों बनाये जिनका अर्थ व्याकरणादिके बिना न खुले? भाषा द्वारा सुगमरूप हितोपदेश क्यों नहीं लिखा? उनके कुछ प्रयोजन तो था नहीं?

समाधान :– भाषामें भी प्राकृत, संस्कृतादिकके ही शब्द हैं; परन्तु अपभ्रंश सहित हैं। तथा देश–देशमें भाषा अन्य–अन्य प्रकार है, तो महंत पुरुष शास्त्रोंमें अपभ्रंश शब्द कैसे लिखते हैं? बालक तोतला बोले परन्तु बड़े तो नहीं बोलते। तथा एक देशकी भाषारूप शास्त्र दूसरे देशमें जाये, तो वहाँ उसका अर्थ कैसे भासित होगा? इसलिये प्राकृत, संस्कृतादि शुद्ध शब्दरूप ग्रन्थ रचे हैं।

तथा व्याकरणके बिना शब्दका अर्थ यथावत् भासित नहीं होता; न्यायके बिना लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते – इत्यादि। वचन द्वारा वस्तुके स्वरूपका निर्णय व्याकरणादि बिना भली–भाँति न होता जानकर उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है। भाषामें भी उनकी थोड़ी–बहुत आम्नाय आने पर ही उपदेश हो सकता है; परन्तु उनकी बहुत आम्नायसे भली–भाँति निर्णय हो सकता है।

फिर कहोगे कि ऐसा है तो अब भाषारूप ग्रन्थ किसलिये बनाते हैं?

समाधान :– कालदोषसे जीवोंकी मन्दबुद्धि जानकर किन्हीं जीवोंके जितना ज्ञान होगा उतना ही होगा – ऐसा अभिप्राय विचारकर भाषाग्रन्थ रचते हैं– इसलिये जो जीव व्याकरणादिका अभ्यास न कर सकें उन्हें ऐसे ग्रन्थों द्वारा ही अभ्यास करना।

तथा जो जीव शब्दोंकी नाना युक्तियोंसहित अर्थ करनेके लिये ही व्याकरणका अवगाहन करते हैं, वादादि करके महंत होनेके लिये न्यायका अवगाहन करते हैं, और चतुराई प्रगट करनेके लिये काव्यका अवगाहन करते हैं, – इत्यादि लौकिक प्रयोजनसहित इनका अभ्यास करते हैं वे धर्मात्मा नहीं हैं। इनका बन सके उतना थोड़ा–बहुत अभ्यास करके आत्महितके अर्थ जो तत्त्वादिकका निर्णय करते हैं वही धर्मात्मा–पंडित जानना।

तथा कितने ही जीव पुण्य–पापादिक फलके निरूपक पुराणादि शास्त्रोंका; पुण्य–पापक्रियाके निरूपक आचारादि शास्त्रोंका; तथा गुणस्थान–मार्गणा, कर्मप्रकृति, त्रिलोकादिके निरूपक करणानुयोगके शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं; परन्तु यदि आप इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ। और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो वहाँ पापको बुरा जानना, पुण्यको भला जानना, गुणस्थानादिकका स्वरूप जान लेना, तथा जितना इनका अभ्यास करेंगे उतना हमारा भला है, – इत्यादि प्रयोजनका विचार किया है; सो इससे इतना तो होगा कि नरकादि नहीं होंगे, स्वर्गादिक होंगे; परन्तु मोक्षमार्गकी तो प्राप्ति होगी नहीं।

प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो; वहाँ फिर पुण्य–पापके फलको संसार जाने, शुद्धोपयोगसे मोक्ष माने, गुणस्थानादिरूप जीवका व्यवहारनिरूपण जाने; इत्यादि ज्योंका त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो।

सो तत्त्वज्ञानके कारण आध्यात्मरूप द्रव्यानुयोगके शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रोंका भी अभ्यास करते हैं; परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, परको पररूप और आस्रवादिका आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुखसे तो

यथावत् निरूपण ऐसा भी करें जिसके उपदेशसे अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जाये। परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्रीका स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष–स्त्री कामरूप हो जायें; परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता, इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है; परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता । यदि स्वयंको श्रद्धान हुआ होता तो अन्य तत्त्वका अंश अन्य तत्त्वमें न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है, इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार यह ग्यारह अंग तक पढ़े, तथापि सिद्धि नहीं होती। सो समयसारादिमें मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंगोंका ज्ञान होना लिखा है।

यहाँ कोई कहे कि ज्ञान तो इतना होता है; परन्तु जैसा अभव्यसेनको श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ वैसा होता है?

समाधान :– वह तो पापी था, जिसे हिंसादिकी प्रवृत्तिका भय नहीं था। परन्तु जो जीव ग्रैवेयिक आदिमें जाता है उसके ऐसा ज्ञान होता है; वह तो श्रद्धानरहित नहीं है। उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि यह ग्रन्थ सच्चे हैं, परन्तु तत्त्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ। समयसार में एक ही जीवके धर्मका श्रद्धान, ग्यारह अंगका ज्ञान और महाव्रतादिका पालन करना लिखा है। प्रवचनसारमें ऐसा लिखा है कि आगमज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सर्व पदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जाननेवाला मैं हूँ; **परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इसप्रकार स्वयंको परद्रव्यसे भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता।** इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है।

इस प्रकार यह सम्यग्ज्ञानके अर्थ जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है, तथापि इसके सम्यग्ज्ञान नहीं है।

सम्यक्चारित्रका अन्यथारूप

तथा इनके सम्यक्चारित्रके अर्थ कैसी प्रवृत्ति है सो कहते हैं :–

बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने–बिगड़नेका विचार नहीं है। और यदि परिणामोंका भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखाई दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है, परन्तु उन परिणामोंकी परम्पराका विचार करने पर अभिप्रायमें जो वासना है उसका विचार नहीं करते। **और फल लगता है सो अभिप्रायमें जो वासना है उसका लगता है । इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।**

ऐसी पहिचानके बिना बाह्य आचरण का ही उद्यम है।

वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रमसे अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे आचरण करते हैं; उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँसे हो? उन जीवोंमें कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषायी होनेपर सम्यक्चारित्र नहीं होता।

तथा कितने ही जीव ऐसा मानता हैं कि जाननेमें क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा। ऐसा विचारकर व्रत–तप आदि क्रियाहीके उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञानका उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिका आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है, और तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी व्रतादिक नहीं हैं तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करना, पश्चात् कषाय घटानेके लिये बाह्यसाधन करना। यही योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचारमें[1] कहा है :–

" दंसणभूमिहं बाहिरा, जिय वयरुंक्ख ण हुंति।"

अर्थ :– इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना हे जीव! व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते। अर्थात जिन जीवोंके तत्त्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते।

वही विशेष बतलाते हैं :–

कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं; परन्तु अन्तरंगमें विषय–कषाय वासना मिटी नहीं है, इसलिये जैसे–तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते है। वहाँ उस प्रतिज्ञासे परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे– कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ासे दुःखी हुआ रोगीकी भाँति काल गँवाता है, धर्म साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न ले? दुःखी होनेमें आर्त्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञाका दुःख नहीं सहा जाता तब उसके बदले विषय–पोषणके लिये अन्य उपाय करता है। जैसे – तृषा लगे तब पानी तो न पिये और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे, व घृत तो छोड़े और अन्य स्निग्ध वस्तुका उपाय करके भक्षण करे। – इसी प्रकार अन्य जानना।

यदि परीषह नहीं सहे जाते थे, विषय–वासना नहीं छूटी थी; तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिये की? सुगम विषय छोड़कर पश्चात् विषम विषयोंका उपाय करना पड़े ऐसा कार्य क्यों करे? वहाँ तो उलटा रागभाव तीव्र होता है।

अथवा प्रतिज्ञामें दुःख हो तब परिणाम लगानेके लिये कोई आलम्बन विचारता है। जैसे – उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है, कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसनोंमें लग जाते हैं, अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना। – इसीप्रकार अन्य प्रतिज्ञामें जानना।

अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं कि पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बादमें उससे दुःखी हों तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना छोड़ना उनको खेल मात्र है; सो प्रतिज्ञा भंग करनेका महापाप है; इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है।

इस प्रकार पहले तो निर्विचार होकर प्रतिज्ञा करते हैं और पश्चात् ऐसी दशा होती है।

जैनधर्म में प्रतिज्ञा न लेनेका दण्ड तो है नहीं। जैनधर्ममें तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने; त्याग करनेमें जो गुण हो उसे जाने; फिर अपने परिणामोंको ठीक करे; वर्त्तमान परिणामोंहीके भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्यमें निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीरकी शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकका विचार करे। – इसप्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिससे प्रतिज्ञाके प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है।

यहाँ कोई कहे कि चांडालादिकने प्रतिज्ञा की, उनके इतना विचार कहाँ होता है?

समाधान :– मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो, परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना – ऐसा विचार करके वे प्रतिज्ञा करते हैं; प्रतिज्ञाके प्रति निरादरपना नहीं होता।

और सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करते हैं सो तत्त्वज्ञानादिपूर्वक ही करते हैं।

---

१ सावधम्म, दोहा ५७

तथा जिनके अन्तरंग विरक्तता नहीं और बाह्यप्रतिज्ञा धारण करते हैं, वे प्रतिज्ञाके पहले और बादमें जिसकी प्रतिज्ञा करें उसमें अति आसक्त होकर लगते हैं। जैसे उपवासके धारणे–पारणेके भोजनमें अति लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता बहुत करते हैं। जैसे – जलको रोक रखा था, जब वह छूटा तभी बहुत प्रवाह चलने लगा; उसी प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा विषयवृत्ति रोक रखी थी, अंतरंग आसक्ति बढ़ती गई, और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयवृत्ति होने लगी; सो प्रतिज्ञाके कालमें विषयवासना मिटी नहीं, आगे–पीछे उसके बदले अधिक राग किया; सो फल तो रागभाव मिटनेसे होगा। इसलिये जितनी विरक्ति हुई हो उतनी प्रतिज्ञा करना। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करके फिर आहारादिमें उछटि (कमी) करते हैं। और बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं तो अपनी शक्ति देखकर करते हैं। जिस प्रकार परिणाम चढ़ते रहें वैसा करते हैं। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी उत्पन्न न हो – ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना।

तथा जिनकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वे कभी तो बड़ा धर्म आचरते हैं, कभी अधिक स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे – किसी धर्मपर्वमें तो बहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्वमें बारम्बार भोजनादि करते हैं। यदि धर्मबुद्धि हो तो यथायोग्य सर्व धर्मपर्वोंमें यथायोग्य संयमादि धारण करें। तथा कभी तो किसी धर्मकार्यमें बहुत धन खर्च करते हैं और कभी कोई धर्मकार्य आ पहुँचा हो तबभी वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करते। सो धर्मबुद्धि हो तो यथाशक्ति यथायोग्य सभी धर्मकार्योंमें धन खर्चते रहें। – इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं है वे कोई क्रिया तो बहुत बड़ी अंगीकार करते हैं, तथा कोई हीन क्रिया करते हैं। जैसे – धनादिकका तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र इत्यादि विषयोंमें विशेष प्रवर्तते हैं। तथा कोई जामा पहिनना, स्त्री–सेवन करना इत्यादि कार्योंका तो त्याग करके धर्मात्मापना प्रगट करते हैं; और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिंद्य पापक्रियाओंमें प्रवर्तते हैं। – इसीप्रकार कोई क्रिया अति उच्च तथा कोई क्रिया अति नीची करते हैं। वहाँ लोकनिंद्य होकर धर्मकी हँसी कराते हैं कि देखो, अमुक धर्मात्मा ऐसे कार्य करता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अति उत्तम पहने और एक वस्त्र अति हीन पहने तो हँसी ही होती है; उसी प्रकार यह भी हँसीको प्राप्त होता है।

सच्चे धर्मकी तो यह आम्नाय है कि जितने अपने रागादि दूर हुए हों उसके अनुसार जिस पदमें जो धर्मक्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों तो निचले पदमें ही प्रवर्तन करे; परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।

यहाँ प्रश्न है कि स्त्री–सेवनादि त्याग ऊपरकी प्रतिमामें कहा है; इसलिये निचली अवस्थावाला उनका त्याग करे या नहीं?

समाधान :– निचली अवस्थावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, कोई दोष लगता है; इसलिये ऊपरकी प्रतिमामें त्याग कहा है। निचली अवस्थामें जिस प्रकारका त्याग सम्भव हो; वैसा निचली अवस्थावाला भी करे; परन्तु जिस निचली अवस्थामें जो कार्य सम्भव ही नहीं है उसका करना तो कषायभावोंसे ही होता है। जैसे – कोई सप्तव्यसनका सेवन करता हो, और स्वस्त्रीका त्याग करे; तो कैसे हो सकता है? यद्यपि स्वस्त्रीका त्याग करना धर्म है; तथापि पहले सप्तव्यसनका त्याग हो, तभी स्वस्त्रीका त्याग करना योग्य है। – इसीप्रकार अन्य जानना।

तथा सर्व प्रकारसे धर्मको न जानता हो – ऐसा जीव किसी धर्मके अंगको मुख्य करके अन्य धर्मोंको गौण करता है। जैसे – कई जीव दया–धर्मको मुख्य करके पूजा–प्रभावनादि कार्यका उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा–प्रभावनादि धर्मको मुख्य करके हिंसादिकका भय नहीं रखते; कितने ही तपकी मुख्यतासे आर्त्तध्यानादिक करके भी उपवासादि करते हैं, तथा अपनेको तपस्वी मानकर निःशंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दानकी मुख्यतासे बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते हैं; कितने ही आरम्भ त्यागकी मुख्यतासे याचना आदि करते हैं;[१] इत्यादि प्रकारसे किसी धर्मको मुख्य करके अन्य धर्मको नहीं गिनते तथा उसके आश्रयसे पापका आचरण करते हैं।

उनका यह कार्य ऐसा हुआ जैसे अविवेकी व्यापारीको किसी व्यापारमें नफेके अर्थ अन्य प्रकारसे बहुत टोटा पड़ता है। चाहिये तो ऐसा कि जैसे व्यापारीका प्रयोजन नफा है, सर्व विचार कर जैसे नफा बहुत हो वैसा करे; उसी प्रकार ज्ञानीका प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व विचार कर जैसे वीतरागभाव बहुत हो वैसा करे, क्योंकि मूलधर्म वीतरागभाव है।

इसीप्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं; उनके तो सम्यक्चारित्रका आभास भी नहीं होता।

तथा कितने ही जीव अणुव्रत–महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं – और आचरणके अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया–लोभादिकका अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्षके अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिकके भोगोंकी भी इच्छा नहीं रखते; परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ, इसलिये आपतो जानते हैं कि मैं मोक्षका साधन कर रहा हूँ; परन्तु जो मोक्षका साधन है उसे जानते भी नहीं, केवल स्वर्गादिकहीका साधन करते हैं। कोई मिसरीको अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे अमृत का गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीतिके अनुसार फल नहीं होता; फल तो जैसे साधन करे वैसा ही लगता है।

शास्त्रमें ऐसा कहा है कि चारित्रमें 'सम्यक्' पद है; वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे – कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो? घास–फूस ही होगा; उसी प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञानका तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो? देवपद आदि ही होंगे।

वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिकके भली–भाँति नाम भी नहीं जानते, केवल व्रतादिकमें ही प्रवर्तते हैं कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन–ज्ञानका अयथार्थ साधन करके व्रतादिमें प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिका यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान–ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है।

यही समयसार कलशमें कहा है :–

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम् ।
सक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ।। १४२।।

---

१ यहाँ पंडित टोडरमलजी की हस्त लिखित प्रतिके हासियेमें इस प्रकार लिखा है – 'इहाँ स्नानादि शौचधर्मका कथन तथा लौकिक कार्य आएँ धर्म्म छोड़ी तहाँ लगि जाय तिनिका कथन लिखनां है।'

अर्थ :– मोक्षसे पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यों द्वारा आप ही क्लेश करते हैं तो करो; तथा अन्य कितने ही जीव महाव्रत और तपके भारसे चिरकाल पर्यन्त क्षीण होते हुए क्लेश करते हैं तो करो; परन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित पद, जो अपने आप अनुभवमें आये ऐसा ज्ञानस्वभाव, वह तो ज्ञानगुणके बिना अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है।

तथा पंचास्तिकायमें जहाँ अंतमें व्यवहाराभासीका कथन किया है वहाँ तेरह प्रकारका चारित्र होनेपर भी उसका मोक्षमार्गमें निषेध किया है।

तथा प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशुन्य संयमभावको अकार्यकारी कहा है।

तथा इन्हीं ग्रन्थोंमें व अन्य परमात्मप्रकाशादि शास्त्रोंमें इस प्रयोजनके लिये जहाँ तहाँ निरूपण है।

इसलिये पहले तत्त्वज्ञान होनेपर ही आचरण कार्यकारी है।

यहाँ कोई जाने कि बाह्यमें तो अणुव्रत–महाव्रतादि साधते हैं, अंतरंग परिणाम नहीं है, और स्वर्गादिककी वांछासे साधते हैं? – सो इसप्रकार साधनेसे तो पापबन्ध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं और पंचपरावर्तनोंमें इकतीस सागर पर्यन्त देवायुकी प्राप्ति अनन्तबार होना लिखा है; सो ऐसे उच्चपद तो तभी प्राप्त करे जब अन्तरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इस लोक–परलोकके भोगादिककी चाह न हो; केवल धर्मबुद्धिसे मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे। इसलिये द्रव्यलिंगीके स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है; सो सम्यग्दृष्टिको भासित होता है।

अब इनके धर्मसाधन कैसे हैं और उसमें अन्यथापना कैसे है?

सो कहते हैं :–

प्रथम तो संसारमें नरकादिके दुःख जानकर व स्वर्गादिमें भी जन्म–मरणादिके दुःख जानकर, संसारसे उदास होकर मोक्षको चाहते हैं। सो इन दुःखोंको तो दुःख सभी जानते हैं। इन्द्र–अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल सुखअवस्थाको पहिचानकर मोक्षको चाहते हैं; वे ही सम्यग्दृष्टि जानना।

तथा विषयसुखादिकका फल नरकादिक है; शरीर अशुचि, विनाशीक है, पोषण योग्य नहीं है; कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं; इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उनका तो त्याग करते हैं– और व्रतादिकका फल स्वर्ग–मोक्ष है; तपश्चरणादि पवित्र अविनाशी फलके दाता हैं, उनके द्वारा शरीरका शोषणकरने योग्य है; देव–गुरु–शास्त्रादि हितकारी हैं; इत्यादि परद्रव्योंके गुणोंका विचार करके उन्हींको अंगीकार करते हैं। – इत्यादि प्रकारसे किसी परद्रव्यको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं, किसी परद्रव्यको भला जानकर इष्ट श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्योंमे इष्ट–अनिष्टरूप श्रद्धान सो मिथ्या है।

तथा इसी श्रद्धानसे इनके उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है; क्योंकि किसीको बुरा जानना उसीका नाम द्वेष है।

कोई कहेगा – सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्यका त्याग करते हैं?

समाधान :– सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानते, अपने रागभावको बुरा जानते हैं। आप रागभावको छोड़ते हैं, इसलिये उसके कारणका भी त्याग होता है। वस्तुका विचार करनेसे कोई परद्रव्य तो बुरा–भला है नहीं।

कोई कहेगा – निमित्तमात्र तो है?

उत्तर :– परद्रव्य कोई जबरन् तो बिगाड़ता नहीं है, अपने भाव बिगड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है। तथा इसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूपसे निमित्त भी नहीं है। इसप्रकार परद्रव्यका तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं, परन्तु इसके ऐसी समझ नहीं है; यह परद्रव्योंका दोष देखकर उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी भी द्रव्यका दोष या गुण नहीं भासित हो, इसलिये किसीको बुरा–भला न जाने; स्वको स्व जाने, परको पर जाने, परसे कुछ भी प्रयोजन मेरा नहीं है ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। सो ऐसी उदासीनता ज्ञानीके ही होती है।

तथा यह उदासीन होकर शास्त्रमें जो अणुव्रत–महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापोंको छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्योंमें प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पापकार्योंमें अपना कर्त्तापना मानता था; उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्योंमें अपना कर्त्तापना मानने लगा। – इसप्रकार पर्यायाश्रित कार्योंमें अहंबुद्धि माननेकी समानता हुई। जैसे– 'मैं जीवोंको मारता हूँ, मैं परिग्रह धारी हूँ' – इत्यादिरूप मान्यता थी; उसी प्रकार– 'मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ, मैं नग्न, परिग्रहरहित हूँ'– ऐसी मान्यता हुई। सो पर्यायाश्रित कार्योंमें अहंबुद्धि वही मिथ्यादृष्टि है।

यही समयसार कलशमें कहा है :–

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुतां ।। १९९।।

अर्थ :– जो जीव मिथ्या अंधकार व्याप्त होते हुए अपनेको पर्यायाश्रित क्रियाका कर्त्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होनेपर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्योंको मोक्ष नहीं होता; उसी प्रकार उनको मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्त्तापनेके श्रद्धानकी समानता है।

तथा इसप्रकार आप कर्त्ता होकर श्रावकधर्म अथवा मुनिधर्म की क्रियाओंमें मन–वचन–कायकी प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओंमें भंग न हो वैसे प्रवर्तता है; परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं; चारित्र है वह वीतरागभावरूप है। इसलिये ऐसे साधनको मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्न :– सराग–वीतराग भेदसे दो प्रकारका चारित्र कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तर :– जैसे चावल दो प्रकारके हैं – एक तुषसहित हैं और एक तुषरहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि तुष है वह चावलका स्वरूप नहीं है, चावलमें दोष है। कोई समझदार तुषसहित चावलका संग्रह करता था; उसे देखकर कोई भोला तुषोंको ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे चारित्र दो प्रकारका है – एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं है, चारित्रमें दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्तरागसहित चारित्रका धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्तरागको ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा।

यहाँ कोई कहेगा कि पापक्रिया करनेसे तीव्र रागादिक होते थे, अब इन क्रियाओंको करने पर मन्द राग हुआ; इसलिये जितने अंशमें रागभाव कम हुआ उतने अंशोंमेंतो चारित्र कहो, जितने अंशोंमें राग रहा उतने अंशोंमें राग कहो। – इस प्रकार उसके सराग चारित्र सम्भव है।

समाधान :– यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसा हो, तबतो तुम कहते हो उसी प्रकार है। तत्त्वज्ञानके बिना उत्कृष्ट (उग्र) आचरण होनेपर भी असंयम नाम ही पाता है, क्योंकि रागभाव करनेका अभिप्राय नहीं मिटता।

वही बतलाते हैं :– द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिकको छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करता है, उग्रसे उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परीषह सहता है, शरीरके खंड–खंड होनेपर भी व्यग्र नही होता, व्रतभंगके अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है, किसीसे क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनोंका मान नहीं करता , ऐसे साधनोंमें कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक–परलोकके विषयसुखको नहीं चाहता; ऐसी उसकी दशा हुई है। यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्रमें कहा है। उसका कारण यह है कि उसके तत्त्वोंका श्रद्धान–ज्ञान सच्चा नहीं हुआ है। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्त्वोंका श्रद्धान–ज्ञान हुआ है; उसी अभिप्रायसे सर्व साधन करता है; परन्तु उन साधनोंके अभिप्राय की परम्पराका विचार करने पर कषायोंका अभिप्राय आता है।

किस प्रकार? सो सुनो :– यह पापके कारण रागादिकको तो हेय जानकर छोड़ता है; परन्तु पुण्यके कारण प्रशस्तरागको उपादेय मानता है, उसकी वृद्धिका उपाय करता है, सो प्रशस्तराग भी तो कषाय है। कषायको उपादेय माना तब कषाय करनेका ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्योंसे द्वेष करके प्रशस्त परद्रव्योंमें राग करनेका अभिप्राय हुआ, कुछ परद्रव्योंमें साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

यहाँ प्रश्न है कि सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्तरागका उपाय रखता है?

उत्तर :– जैसे किसीका बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देनेका उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके पापरूप बहुत कषाय होती थी, सो वह पुण्यरूप थोड़ी कषाय करनेका उपाय रखता है, थोड़ी कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें कषायको हेय ही मानता है। तथा जैसे– कोई कमाई का कारण जानकर व्यापारादिका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है; उसी प्रकार द्रव्यलिंगी मोक्षका कारण जानकर प्रशस्तरागका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है। – इसप्रकार प्रशस्तरागके उपायमें और हर्षमें समानता होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टिके व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्रायमें विशेष हुआ।

तथा इसके परीषह–तपश्चरणादिकके निमित्तसे दुख हो उसका इलाज तो नहीं करता ; परन्तु दुःखका वेदन करता है; सो दुःखका वेदन करना कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेयको जानता है उसी प्रकार दुःखके कारण ज्ञेयको जानता है; सो ऐसी दशा इसकी होती नहीं है। तथा उनको सहता है वह भी कषायके अभिप्रायरूप विचारसे सहता है। वह विचार ऐसा होता है कि परवशतासे नरकादि गतिमें बहुत दुःख सहन किये, यह परीषहादिका दुःख तो थोड़ा है। इसको स्ववश सहनेसे स्वर्ग–मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। यदि इनको न सहें और विषयसुखका सेवन करें तो नरकादिककी प्राप्ति होगी वहाँ बहुत दुःख होगा – इत्यादि विचारसे परीषहोंमें अनिष्ट बुद्धि रहती है। केवल नरकादिकके भयसे तथा सुखके लोभसे उन्हें सहन करता है; सो यह सब कषायभाव ही हैं। तथा ऐसा विचार होता है कि जो कर्म बांधे थे वे भोगे बिना नहीं छूटते; इसलिये मुझे सहने पड़े। सो ऐसे विचारसे कर्मफलचेतनारूप प्रवर्तता है। तथा पर्यायदृष्टिसे जो परीषहादिरूप अवस्था होती है उसे अपनेको हुई मानता है; द्रव्यदृष्टिसे अपनी और शरीरादिककी अवस्थाको भिन्न नहीं पहिचानता। इसीप्रकार नानाप्रकारके व्यवहार विचारसे परीषहादिक सहन करता है।

समयसार शास्त्रमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशोंमें प्रगट की है। तथा पंचास्तिकाय टीकामें जहाँ केवल व्यवहारावलम्बीका कथन किया है वहाँ व्यवहार पंचाचार होनेपर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है। तथा प्रवचनसारमें संसारतत्त्व द्रव्यलिंगीको कहा है। परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रोंमें भी इस व्याख्यानको स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगीके जो जप, तप, शील, संयमादि क्रियाएँ पायी जाती हैं उन्हें भी इन शास्त्रोंमें जहाँ–तहाँ अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे नहीं लिखते हैं।

इसप्रकार केवल व्यवहाराभासके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया ।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ

मैं हूँ अपने में स्वयं पूर्ण, पर की मुझमें कुछ गन्ध नहीं ।
मैं अरस अरूपी अस्पर्शी, पर से कुछ भी सम्बन्ध नहीं ।।

मैं रंगराग से भिन्न, भेद से भी मैं भिन्न निराला हूँ ।
मैं हूँ अखण्ड चैतन्यपिण्ड, निज रस में रमने वाला हूँ ।।

मैं ही मेरा कर्त्ता-धर्त्ता, मुझमें पर का कुछ काम नहीं ।
मैं मुझ में रहने वाला हूँ, पर में मेरा विश्राम नहीं ।

मैं शुद्ध,बुद्ध,अविरुद्ध, एक,परपरिणति से अप्रभावी हूँ ।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व, मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ।

शांति सुधा बरसाये

शांति सुधा बरसाये जिनवाणी,
वस्तु स्वरूप बताये जिनवाणी

पूर्वापर सब दोष रहित है, पाप क्रिया शून्य शुद्ध है ।
परमागम कहलाये जिनवाणी ।।1।।

परमागम भव्यों को अर्पण, मुक्ति वधू के मुख का दर्पण ।
भव सागर से तारे जिनवाणी ।।2।।

राग रूप अंगारों द्वारा, महा क्लेश पाता जग सारा ।
सजल मेघ बरसाये जिनवाणी ।।3।।

सात तत्त्व का ज्ञान कराये, अचल विमल निज पद दर्शाये ।
सुख सागर लहराये जिनवाणी ।।4।।